

ഭാരതത്തിന്റെ ആദ്ധ്യാത്മികജ്ഞാനവും സാംസ്കാരികപൈതൃകവും പരിപോഷിപ്പിക്കുകയും പ്രചരിപ്പിക്കുകയും ചെയ്യുന്ന മഹദ്ഗ്രന്ഥങ്ങൾ, അവയുടെ മൂല്യവും വ്യക്തതയും ഒട്ടും ചോർന്നുപോകാതെതന്നെ, നൂതന സാങ്കേതികവിദ്യ ഉപയോഗിച്ച് പരിരക്ഷിക്കുകയും ജിജ്ഞാസുകൾക്ക് സൗജന്യമായി പകർന്നുകൊടുക്കുകയും ചെയ്യുക എന്ന ശ്രേയസ് ഫൗണ്ടേഷന്റെ ലക്ഷ്യ സാക്ഷാത്കാരമാണ് ശ്രേയസ് ഓൺലൈൻ ഡിജിറ്റൽ ലൈബ്രറി.

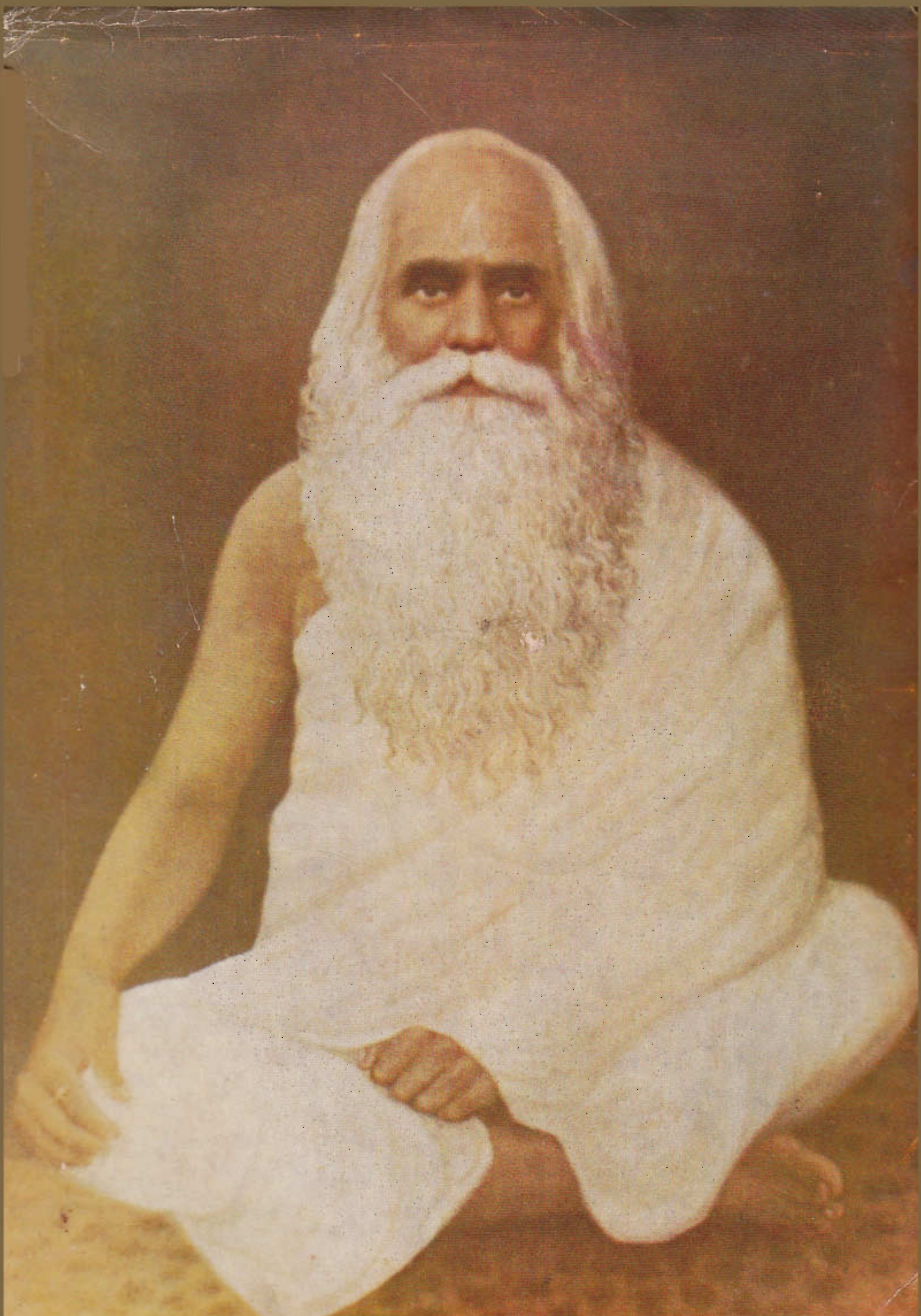
ഗ്രന്ഥശാലകളുടെയും ആദ്ധ്യാത്മിക പ്രസ്ഥാനങ്ങളുടെയും വ്യക്തികളുടെയും സഹകരണത്തോടെ കോർത്തിണക്കിയിരിക്കുന്ന ഈ ഓൺലൈൻ ലൈബ്രറിയിൽ അപൂർവ്വങ്ങളായ വിശിഷ്ടഗ്രന്ഥങ്ങൾ സ്കാൻചെയ്ത് മികവാർന്ന ചെറിയ പി ഡി എഫ് ഫയലുകളായി ലഭ്യമാക്കിയിരിക്കുന്നു. ഇവ കമ്പ്യൂട്ടറിലോ പ്രിന്റ് ചെയ്തോ എളുപ്പത്തിൽ വായിക്കാവുന്നതാണ്.

ശ്രേയസ് ഓൺലൈൻ ഡിജിറ്റൽ ലൈബ്രറിയിൽ ലഭ്യമായ ഗ്രന്ഥങ്ങൾ വ്യക്തിപരമായ ആവശ്യങ്ങൾക്കുവേണ്ടി സൗജന്യമായി ഉപയോഗിക്കാവുന്നതാണ്. എന്നാൽ വാണിജ്യപരവും മറ്റുമായ കാര്യങ്ങൾക്കായി ഇവ ദുരുപയോഗം ചെയ്യുന്നത് തീർച്ചയായും അനുവദനീയമല്ല.

ഈ ഗ്രന്ഥശേഖരത്തിന് മുതൽക്കൂട്ടായ ഈ പുണ്യഗ്രന്ഥത്തിന്റെ രചയിതാവിനും പ്രകാശകർക്കും നന്ദി രേഖപ്പെടുത്തുന്നു.

ശ്രേയസ് ഓൺലൈൻ ഡിജിറ്റൽ ലൈബ്രറിയെക്കുറിച്ചും ശ്രേയസ് ഫൗണ്ടേഷനെക്കുറിച്ചും കൂടുതൽ വിവരങ്ങൾ അറിയാനും പ്രവർത്തനങ്ങളിൽ പങ്കാളിയാകാനും ശ്രേയസ് വെബ്സൈറ്റ് സന്ദർശിക്കുക.

http://sreyas.in



महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद

डा० (प्रोफेसर) विजयेन्द्र स्नातक,
भूतपूर्व प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय ।

मनुष्य का महत्व जिन गुणों से पहचाना जाता है, वे गुण आनुवंशिक मर्यादा या वंशपरम्परा, जाति की उच्चता या धन-संपन्नता से मनुष्य को प्राप्त नहीं होते । किसी संपन्न या निर्धन परिवार में जन्म लेना किसी उच्च कुल या साधारण घर में पैदा होना मनुष्य के हाथ में नहीं है । मनुष्य के हाथ में हैं परिश्रम, योग्यता सदाचार, अध्ययन-मनन और आदर्शनिष्ठा । जो व्यक्ति इन गुणों को स्वायत्त कर लेता है, वही समाज केलिए, समस्त मानव-जाति केलिए पूज्य और महत्वपूर्ण बन जाता है । महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद इसी कोटि के एक परमपूज्य मानव-जाति का पथ-प्रशस्त करनेवाले महापुरुष हैं जो उन्नीसवीं-बीसवीं शती में भारतवासियों के लिए आलोक-पुंज की तरह सिद्ध हुए और अपने सदाचरण से, अपनी अलौकिक प्रतिभा से अपने आध्यात्मिक तेज से मानव-जाति के कल्याण केलिए आजीवन प्रयत्न करते रहे । ऐसे महापुरुष का जीवन केवल पढ़नीय और मननीय ही नहीं वरन् अनुकरणीय होता है ।

MAHARSHI SHREE VIDYADHIRAJ THEERTHAPAD

By

DR. N. CHANDRASEKHARAN NAIR

Published by

SHREE VIDYADHIRAJ VIDYASAMAJAM

TRIVANDRUM

महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद

महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद

डा० एन० चन्द्रशेखरन नायर

प्रकाशक
श्री विद्याधिराज विद्यासमाजम
तिरुवनन्तपुरम

मूल्य — 25 रुपये मात्र

वितरक : श्रीनिकेतन प्रकाशन, पट्टम पी. ओ. तिरुवनन्तपुरम-695 004.

MAHARSHI SHREE VIDYADHIRAJ THEERTHAPAD

By - Dr. N. CHANDRASEKHARAN NAIR

First Published - 1983 : Copies 2500

Published by :

SHREE VIDYADHIRAJ VIDYASAMAJAM, TRIVANDRUM.

Printed at Sreekrishna Printers, Trivandrum.

प्राक्कथन

भगवान् श्री विद्याधिराज तीर्थपाद पर रचित इस ग्रन्थ को सहृदय सज्जनों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस पवित्र ग्रन्थ के भूमिकाकारों ने सूचित किया है कि उन्हें महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद के नाम से परिचय नहीं है। महर्षि श्री विद्याधिराज ब्रह्मज्ञ एवं जीवन्मुक्त महान संत थे। वे स्वयं नहीं चाहते थे कि उनके नाम पर कोई अध्यात्म संस्था स्थापित हो अथवा एक महान महन्त के नाम से ख्याति प्राप्त करें। जैसे श्री तिरुज्ञान सम्बन्धर, भगवान् बुद्ध, जगद्गुरु शंकराचार्य, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि भारतीय अध्यात्म पुरुष संसार-जीवन में तटस्थ रहे थे वैसे महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद भी लौकिक जीवन में तटस्थता अपनाए रहे थे। फिर भी, उपर्युक्त महापुरुषों की ही तरह निस्वार्थ भाव से वे लोक-मंगल चाहते थे। उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ और बीसवीं सदी के प्रारंभिक चरणों में तीर्थपाद स्वामी के भव्य एवं दिव्य जीवन के सान्निध्य के बल पर केरल की जनता की जीवन-गति में पर्याप्त परिवर्तन आ गया और महापुरुष की मंगल-कामना मात्र से केरल की संस्कृति का समुचित एवं रुचिकर विकास हो गया। तत्पश्चात् देश की श्रीवृद्धि होने लगी। आज केरल का जो सांस्कृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक धरातल है उसके मूल में महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद की मंगलाशा की प्रेरणा काम करती थी।

हाँ, एक बात का उल्लेख यहाँ संगत मालूम होता है कि सन् 1908 में काशी में एक संस्कृत काव्य-ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था, जिसका शीर्षक 'बालाह्व स्वामिचरणाभरणं' था। प्रस्तुत काव्य में श्री विद्याधिराज तीर्थपाद के महान जीवन का ही वर्णन है। उन दिनों श्री विद्याधिराज तीर्थपाद श्री चट्टम्पि स्वामी महाराज के नाम से प्रख्यात थे। और उनकी अवस्था 55 वर्ष की थी। काव्यपुरुष श्री

चट्टम्पि स्वामीजी को उस रचना में ब्रह्मनिष्ठ, जीवन्मुक्त, अतिवर्णाश्रमी, ऋषि, सर्वज्ञ, महाप्रभु इत्यादि विशेषणों के अधिकारी स्थापित किया गया। स्वामीजी के साधना-रत जीवन और ज्ञान का समुचित वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है। काव्य का आरंभ निम्नलिखित पद्यों से होता है :—

अस्त्यात्मविद्यामृततृप्तिशाली
बालाभिधानो भगवान् मुनीन्द्रः,
यत् स्वामिनो भूवलयप्रसिद्धम्
विभाति 'चट्टम्प्य'पराभिधानम्।

[भगवान् बालभट्टारक मुनीन्द्र आत्मविद्यामृत का पान करके संतृप्त तथा कृतकृत्य होकर आत्मा में रमकर विराजित हैं। जगत् में, उनका प्रसिद्ध दूसरा नाम 'चट्टम्पि' है।]

तपोधनानामधुनातनानाम्
सनातनानन्दघनानघानाम्
सुधीश्वराणां प्रथमाभिधेयो
यः साधुलोकस्य मनोधिनोति।

[आज ऐसे अनेक ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्मलीन महात्मा जीवित हैं जो कल्मषहीन जीवन व्यतीत करते हुए नित्यानन्द में रम रहे हैं। वे लोक-मंगल की कामना में तपस्या-मय जीवन को एक-मात्र सम्बल मानते हैं। ऐसे विज्ञ तथा वेदज्ञ महात्माओं में अग्रणि श्री चट्टम्पि-स्वामी महाराज सारे जनों के हृदयों को आनन्दित करते हुए विराज रहे हैं।]

अच्छिन्न कारुण्यनिवासभूमिम्
सच्चित्सुखाखण्डरसप्रमोदम्;
वेदान्तिनं यं शरणं व्रजन्तः
संसारवार्द्धि प्रतरन्ति सन्तः।

[श्री चट्टम्पि स्वामी महाराज अजस्र करुणा के निधान हैं। वे ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करके अखण्ड आनन्द में लीन रहते हैं। उन तत्वदर्शी और लक्षण-संपन्न आचार्य तथा मोक्षदायक गुरु की शरण में जाकर असंख्य सज्जन संसार-सागर को पार करते हैं।]

कहने का तात्पर्य यह है कि तीन सर्गों में विभक्त और एक सौ दस (110) श्लोकोंवाले प्रस्तुत काव्यग्रन्थ का प्रकाशन पुण्यभूमि काशी में हुआ था। आज ग्रन्थ की प्रतियाँ सुलभ नहीं हैं। यह तो मानना पड़ता है कि प्रस्तुत ग्रंथ के द्वारा वर्ण्यपुरुष की कीर्ति उत्तर में कतिपय संस्कृत विद्वानों तक ही सीमित रही होगी।

इस ग्रंथ के दोनों विद्वान भूमिका-लेखक डा० विजयेन्द्र स्नातक और डा० प्रभाकर माचवे आधुनिक भारतीय साहित्यकारों में विशेषकर हिन्दी प्रदेश के साहित्यकारों में शीर्षस्थ हैं और विश्रुत भी हैं। उनकी विद्वत्ता एवं साहित्य के क्षेत्र में उनकी वरिष्ठता का पता सभी भारतीय मनीषियों को है। महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद के बारे में रचित मेरे ग्रन्थ को पढ़कर वे अन्य जिज्ञासु विद्वानों एवं सात्विक पुरुषों की तरह अतीव प्रसन्न हुए हैं और उन्होंने मुझे व्यक्तिगत रूप से लिखा है कि इस रचना के कारण आप सारे हिन्दी भाषी लोगों के साधुवाद के पात्र बन गये हैं। यह आशीर्वाद मेरेलिए अत्यन्त शुभकर लगता है और मैं भक्तिभाव के साथ उनकी शुभकामना को शिरोधार्य करता हूँ।

सूचनार्थ यह उल्लेख किया जाता है कि श्री 'बालाह्वस्वामि चरणाभरणम्' का पुनर्मुद्रण सन् 1977 में विस्तृत तथा सुयोग्य व्याख्या सहित हो गया है। ग्रंथ के रचयिता कविदीपन् आरन्मुला श्री एम. के. नारायणपिल्लै, जिनका सन्यासी नाम था "सच्चिदानन्द ब्रह्मेन्द्रन" स्वर्गस्थ हो चुके थे। बाद में महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपादकी शिष्य-परंपरा में आज शोभित होनेवाले महाप्राज्ञ सन्यासीवर्य्य श्री विद्यानन्द तीर्थपाद स्वामी की विशद और गरिमामय भूमिका और महापण्डित के. बालरामपणिक्कर की पण्डितोचित व्याख्या के साथ प्रस्तुत संस्कृत काव्य ग्रंथ रूप में प्रकाशित हुआ है। केरल के विख्यात आयुर्वेद भिषक्वर स्व० श्री कुमरकं पी. परमेश्वरन् पिल्लैजी प्रस्तुत ग्रंथ का प्रकाशन कराकर कृतकृत्य हो गये।

"बालाह्व स्वामि चरणाभरणम्" के रचयिता ने श्री चट्टम्पी स्वामी महाराज का जो प्रशस्तिगान किया है उसमें कोई अयुक्ति नहीं है, क्योंकि जिन्होंने महर्षि के पुण्य दर्शन किये हैं और संपर्क में रहे हैं,

वे कवि की उक्तियों में आये हुए भावों से पूर्णतः परिचित हैं। परम आदरणीय श्री नारायणगुरु ने भी अपने अध्यात्मगुरु महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद के यशोगान में नपे-तुले शब्दों का प्रयोग ही किया है। श्री नारायणगुरु तो शब्द और अर्थ के पारखी रहे थे :—

सर्वज्ञ ऋषिरुत्कान्तः
सद्गुरुः शुकवर्त्मना
आभाति परम व्योम्नि
परिपूर्ण कलानिधिः
लीलया कालमधिकं
नीत्वान्ते स महाप्रभुः
निस्स्वं वपुः समुत्सृज्य
स्वं ब्रह्मवपुरास्थितः

"महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद" संज्ञक इस ग्रंथ का प्रकाशन पूजनीय महर्षि के नाम पर तिरुअनन्तपुरम् में स्थापित एक सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था 'श्री विद्याधिराज विद्यासमाजम' के द्वारा किया गया है। प्रस्तुत सभा की स्थापना सन् 1975 में हुई, जब कि स्वामीजी की महासमाधि के पचास वर्षों की पूर्ति में सारा केरल उस पुण्य पर्व को मना रहा था। श्री विद्याधिराज विद्यासमाजम ने सन् 1975 में तिरुअनन्तपुरम् शहर में प्रथम हाईस्कूल की स्थापना की। आज यह हाईस्कूल केरल के सर्वाधिक श्रेष्ठ और ख्याति-प्राप्त हाईस्कूलों में एक है। बाद में सभा ने केरल के अन्य कई भागों में भी अपने स्कूल खोले। अब तक उनकी संख्या 15 है। और ये सभी स्कूल शिक्षा की सुगठित व्यवस्था और ठीक अनुशासन के कारण प्रतिष्ठा-प्राप्त हैं। सभा के संस्थापक श्री आर. रामचन्द्रन नायर आई.ए.एस. हैं जो संस्था की उन्नति में तन-मन-प्राण से संलग्न हैं। श्री रामचन्द्रन नायर "इन्डियन अड्मिनिस्ट्रेटीव सर्वीस" के एक मुख्य सदस्य हैं। अब वे केरल सरकार के सेक्रटरी हैं और संस्कृति विभाग को सम्भाल रहे हैं। श्री नायर अपने "तुलसीवनम्" तूलिका नाम से विख्यात हैं और आप मलयालम और संस्कृत के कवि हैं, साथ ही दक्षिण के प्रमुख क्लासिकल गीत-रचयिताओं

में हैं। केरल के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों को उनका योगदान महत्वपूर्ण है। सभा के अध्यक्ष श्री आर. कुमारन नायर हैं जो श्री आर. रामचन्द्रन नायर के ज्येष्ठ भ्राता हैं, वे आजकल तिरुवनन्तपुरमवाले महालेखाकार भवन में एक मुख्य लेखापाल हैं। सभा के मन्त्री श्री पी. एन. कृष्णपिल्लै हैं जो स्टेट इन्स्टिट्यूट ऑफ एज्यूकेशन (State Institute of Education) में एक अफसर हैं। उपर्युक्त तीन महाशयों की लगन और सद्भाव न होता तो इस ग्रंथ का निर्माण-कार्य संभव न होता। भारत के सारे सभ्य तथा सद्भावी लोगों की हार्दिक शुभ-कामना उन्हें प्राप्त होगी, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में मुझे अपनी रामकहानी भी सुनानी पड़ रही है। मैं महर्षि के जीवन पर एक ग्रंथ रचने का वचन अपने सुहृद्वर श्री आर. रामचन्द्रन नायर, आई. ए. एस. को देकर स्वयं आत्मपरितोष के उपाय पर प्रसन्न तो हुआ। लेकिन बाद में मुझे अनुभव हुआ कि महर्षि के जीवन पर कोई रचना करना आसान कार्य नहीं है। वैसे परम कारुणिक ईश्वर के कृपा-कटाक्ष से अनेक ग्रंथ लिखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है और इस आत्मबल पर ही मैंने महर्षि के जीवन पर भी लिखने का संकल्प किया था। फिर भी मैंने इस रचना को कभी सुगम नहीं सोचा था। ग्रंथ-रचना के सन्दर्भों में मैं संयम का पालन किया करता था। फिर भी मानों स्वयं महर्षि मुझे चेतावनी दे रहे थे कि "मेरे ऊपर ग्रन्थ लिखकर मुझे प्रसिद्ध कर देने की धृष्टता मत कर, मैं अपने जीवन में प्रसिद्धि नहीं चाहता था", और मुझे बार-बार बाधाएँ देते ही रहे। अंत में अनेक प्रकार की रुकावटों के बाद सारा लेखन समाप्त करके प्रेस में दिया और अध्याय क्रमशः छपते ही रहे। तभी सुनना पड़ा कि प्रेस से दो अध्यायों की पाण्डुलिपि गायब हो गयी है। मेरा सारा उत्साह मन्द पड़ गया, फिर भी लक्ष्य पर अटल रहा, दुबारा पढ़ना लिखना प्रारम्भ किया।

इस सन्दर्भ में अपने एक वत्सल शिष्य एवं प्रतिष्ठित साहित्य-कार डा० एन. पी. कुट्टन पिल्लैजी की मदद मुझे प्राप्त हुई जिन्होंने महर्षि के साहित्य का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करके कतिपय लेख मुझे भेज दिये।

प्रातःस्मरणीय श्री विद्याधिराज तीर्थपाद पर लिखे इस ग्रंथ का स्वेच्छापूर्वक अध्ययन करके केरल हिन्दी साहित्य अकादमी की सेक्रटरी जनरल श्रीमती टी. एस. पोन्नम्मा और मित्रवर प्रोफसर जनार्द्दनन पिल्लै ने असीम आनन्द और अकलंक अभिनन्दन प्रकट किया है।

इस ग्रंथ के प्रणयन और प्रकाशन में जिन अंतरंग मित्रों एवं शुभ-कांक्षियों ने मुझे सहयोग एवं सहायता प्रदान की है उन सब के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

एन. चन्द्रशेखरन नायर

भूमिका

डा० (प्रोफेसर) विजयेन्द्र स्नातक, भूतपूर्व प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

मनुष्य का महत्व जिन गुणों से पहचाना जाता है, वे गुण आनुवंशिक मर्यादा या वंशपरम्परा, जाति की उच्चता या धन-संपन्नता से मनुष्य को प्राप्त नहीं होते। किसी संपन्न या निर्धन परिवार में जन्म लेना किसी उच्च कुल या साधारण घर में पैदा होना मनुष्य के हाथ में नहीं है। मनुष्य के हाथ में हैं परिश्रम, योग्यता, सदाचार, अध्ययन-मनन और आदर्शनिष्ठा। जो व्यक्ति इन गुणों को स्वायत्त कर लेता है वही समाज केलिए, समस्त मानव-जाति केलिए पूज्य और महत्वपूर्ण बन जाता है। महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद इसी कोटि के एक परमपूज्य मानव-जाति का पथ प्रशस्त करनेवाले महापुरुष हैं जो उन्नीसवीं-बीसवीं शती में भारतवासियों केलिए आलोक-पुंज की तरह सिद्ध हुए और अपने सदाचरण से, अपनी अलौकिक प्रतिभा से अपने आध्यात्मिक तेज से मानव-जाति के कल्याण केलिए आजीवन प्रयत्न करते रहे। ऐसे महापुरुष का जीवन केवल पढ़नीय और मननीय ही नहीं वरन् अनुकरणीय होता है।

भारत के दक्षिण-प्रदेश में तिरुअनन्तपुरम के कोल्लूर नामक गाँव में ग्यारह अगस्त अठारह सौ तिरपन — 1853 — को एक नायर परिवार में एक बालक ने जन्म लिया जो अपनी आर्थिक दुस्थिति के कारण पाठशाला में पढने जाने में भी समर्थ नहीं था। माता-पिता की निर्धनता के कारण वह बालक पढ़ने की प्रबल इच्छा रखते हुए भी पाठशाला का अत्यल्प शुल्क देने में समर्थ न था, अतः घर बैठे हुए ही अक्षराभ्यास करता था। बाद की शिक्षा भी श्रुतिमाध्यम से ही प्राप्त करने में वह सफल हुआ। आश्चर्य की बात है कि एक बालक जो गुरुमुख से प्रत्यक्ष

पाठ नहीं पढ़ सकता था वही दीवार के पीछे खड़े होकर गुरु के वचनों को ध्यान-पूर्वक सुनकर विद्यासंपन्न विद्वान् हो गया। महाभारत में हमने पढ़ा है कि एकलव्य नामक एक किशोर ने गुरु द्रोणाचार्य की प्रतिमा बनाकर उनके सामने श्रद्धावनत होकर धनुर्विद्या का ज्ञानार्जन किया था और वह द्रोणाचार्य के पट्टशिष्य अर्जुन से भी बढ़कर धनुर्धर हो गया था। ठीक इसी प्रकार बालक अय्यप्पन—कुञ्ञान—अपने गुरु के वचन दीवार की आड़ में खड़े होकर सुनता रहा और संस्कृत भाषा के निष्णात हो गया। गुरुजी को जब इस अज्ञात शिष्य के विषय में मालूम हुआ तो उन्होंने स्वयं उसे बुलाकर भविष्य में प्रत्यक्ष रूप से पढ़ने का क्रम बनाया। यह महर्षि विद्याधिराज तीर्थपाद के जीवन की पहली विस्मयकारी घटना है जो उनकी अलौकिक प्रतिभा, निष्ठा, मनीषा और ज्ञान-पिपासा को स्पष्ट करती है।

महर्षि विद्याधिराज तीर्थपाद की जीवनी पढ़ने पर कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालनेवाले हैं। यह तो इतिहास में स्पष्ट है कि इस सदी में राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द सरस्वती, महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहँस, विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्यतिलक गोखले आदि अनेक महापुरुष हुए। इन सब का किसी न किसी संदर्भ में भारत के इतिहास में उल्लेख हुआ है। कोई बड़ा समाज-सुधारक है तो कोई राजनीतिक नेता है; कोई उच्चकोटि का आध्यात्मिक संत है तो कोई परम विद्वान मनीषी है। किन्तु इन सब महानुभावों के साथ कुछ एसे महापुरुष भी उस शताब्दी में उत्पन्न हुए जो अपने व्यक्तित्व को जन-जागृति केलिए सभी दिशाओं में संलग्न रखते रहे। धर्म, राजनीति, समाज, अध्यात्म, विद्या आदि विविध क्षेत्रों में एक साथ काम करनेवाले महापुरुषों में विद्याधिराज तीर्थपाद का नाम है। यह ठीक है कि इनका कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत तक सीमित रहा और इसी कारण भारतीय इतिहास में सार्वभौम रूप से इन्हें ख्याति नहीं मिली। किन्तु जन-जागरण केलिए इन्होंने जो कार्य किए वह किसी भी समाज-सुधारक, राजनीतिक नेता या आध्यात्मिक उपदेष्टा से कम नहीं है।

शैशवावस्था से ही तीर्थपाद की वृत्ति चिन्तन-प्रधान थी। सांसारिक भोगविलास के प्रति अरुचि, और अध्यात्म तथा ज्ञानार्जन के प्रति गहरी रुचि के कारण एक स्थान पर न टिक कर इधर-उधर भ्रमण करते हुए संसार के विषयों का ज्ञान प्राप्त करना ही इनका लक्ष्य बना रहा। जीवन को तपोमय बनाकर इन्हें जो सिद्धियां प्राप्त हुईं वे सर्वथा अलौकिक थीं। किन्तु इन्होंने उन सिद्धियों का उपयोग स्वार्थसाधन या आत्मसुख केलिए कभी नहीं किया। ज्यों ज्यों आत्मतेज प्रखर होता गया त्यों त्यों तीर्थपाद संसार के दुखी जनों के दुःख दूर करने में संलग्न होते गये। दुःख तप्त प्राणियों के आर्तिनाश का निरंतर उपाय खोजने में संलग्न तीर्थपाद का जीवन अपनेलिए न होकर विश्वभर के प्राणियों केलिए समर्पित हो गया। इसी में उन्होंने जीवन की सार्थकता का अनुभव किया। ऐसे महापुरुष की जीवनी प्रत्येक मनुष्य केलिए प्रेरणाप्रद हो सकती है।

डा० एन० चन्द्रशेखरन नायर ने विद्याधिराज तीर्थपाद की जीवनी लिखकर पाठकों केलिए बहुत ही रोचक सामग्री एकत्र की है। इस जीवनी में तीर्थपाद के जीवन के विविध पक्षों को प्रामाणिक स्तर पर उद्धरित करने के साथ उनकी रचनाओं का भी परिचय दिया गया है। तीर्थपाद के जीवन में कुछ ऐसे भी संदर्भ हैं जो सिद्धपुरुष के जीवन में ही घटित होते हैं। उन सन्दर्भों को कालांतर में अनुयायी लोग अद्भुत और चमत्कारपूर्ण बनाकर ऐसे रूप में प्रस्तुत करते हैं कि मानों यह दिव्य घटना है, किन्तु विद्याधिराज तीर्थपाद जैसे महापुरुषों केलिए न तो इनमें कोई चमत्कार होता है न अलौकिक तो है। उनके जीवन में भयंकर सर्पदंश की घटनाएँ अनेक बार हुईं, किन्तु उन्हें सर्पविष कभी घातक सिद्ध नहीं हुआ। उनकी प्राणायाम-विधि और साधना इस प्रकार की थी कि सामान्य प्रकार के रोग-कष्ट उन्हें पीड़ित नहीं कर सकते थे। भयंकर जीव-जन्तु भी उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते थे। उनके साधु-स्वभाव से सब वशवर्त्ती होकर चलते थे। ऐसे अनेक प्रसंग इस पुस्तक में एकत्र किये गये हैं जिन्हें पढ़कर तीर्थपाद के सिद्धपुरुष होने में किसी को सन्देह का अवकाश नहीं रहता।

श्री विद्याधिराज तीर्थपाद के जीवन के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने ग्रन्थ लिखे हैं। उनके नाम भी इस ग्रन्थ में हैं। किन्तु

इन ग्रन्थों में इनका जो रूप उभरा है वह एक सिद्ध महापुरुष का है। डा० नायर ने पूर्वप्रकाशित सभी ग्रन्थों का अनुशीलन कर जो जीवनी लिखी है, उसमें विस्तार के साथ गाँभीर्य है। विद्याधिराज चट्टम्पी स्वामीजी के विविध कला-निष्णात होने का उल्लेख करते हुए डा० नायर ने यह दिखाया है कि स्वामीजी सङ्गीत-कला प्रवीण थे। सङ्गीत केलिए गीत रचना भी करते थे और सस्वर उनका गायन करते थे। नाना प्रकार के वाद्य-यन्त्रों के बजाने में भी वे पूर्ण पारंगत थे। काव्य-रचना में तो उनकी नैसर्गिक गति थी। सहजरूप में बैठे हुए नाना-विषयों पर कविता लिख देते थे।

श्री विद्याधिराज महाराज का स्वामी विवेकानन्द से भी साक्षात्कार हुआ था। और विचारों का आदान-प्रदान भी। स्वामीजी की जनसेवा का सन्दर्भ भी इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है। उस समय जात-पांत और अस्पृश्यता आदि का प्रचार था। किन्तु देश के महान समाज-सुधारक इन कुप्रथाओं के विरुद्ध प्रचार कर रहे थे। उत्तर भारत में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन कुप्रथाओं का बड़े जोर के साथ खण्डन किया था। दक्षिण भारत में इन कुरीतियों और रूढ़ि-ग्रस्त परम्पराओं के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले विद्याधिराज महाराज थे। केरलीय संस्कृति की पुनःस्थापना का भी इन्होंने पूरा प्रयत्न किया। जातियों में उच्च और निम्न का भेद-भाव भी स्वामीजी ने दूर किया था। एक दूरदर्शी महापुरुष की भाँति दक्षिण भारत को जीवन-जागृति और उत्थान का सन्देश देकर इस संसार से बिदा हुए। इनके शिष्यों में श्री नारायणगुरु, श्री नीलकण्ठ तीर्थपाद स्वामी, श्री तीर्थपाद परम-हंस स्वामी आदि प्रसिद्ध हैं। तीर्थपाद परमहंस ने तीर्थपाद नाम से सम्प्रदाय के प्रवर्तन और प्रचार में अधिक योग दिया। वास्तव में आधुनिक युग में केरल की ऋषि-परंपरा को जीवन्त रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री विद्याधिराज तीर्थपाद स्वामीजी को ही है। आधुनिक युग में ऋषि-परंपरा लुप्त-प्राय है। उसके साधक अब दुर्लभ हो गये हैं। किन्तु स्वामीजी के प्रयोग इस दिशा में भी श्लाघ्य हैं। श्री विद्याधिराज तीर्थपाद ने अपने प्रवचनों और उपदेशों से अपने असंख्य नर-नारियों को लाभान्वित किया, जिसके साथ वे ग्रंथ-प्रणयन भी करते

रहे। उनके द्वारा प्रणीत छ: प्रमुख ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। "प्राचीन मलयालम" उनका एक अति विख्यात ग्रंथ है। अहिंसा और दयाभाव पर निर्मित जीव"कारुण्य-निरूपणम" ग्रंथ भारतीय जीवदया का उद्घोष करता है। "वेदाधिकार-निरूपणम" ग्रंथ स्वामीजी के उदार विचारों का साक्षी है। केवल ब्राह्मण को वेदाध्ययन का अधिकारी माननेवाले लोगों को उन्होंने उपनिषदों के साक्ष्य पर मनुष्यमात्र केलिए इस अधिकार की स्थापना की है, निस्संदेह यह एक अति प्रगतिशील कर्म था। "क्रिस्तु-मत निरूपणं" में उनकी समन्वयकारी-विचारधारा के दर्शन होते हैं। क्रिस्तीन् धर्म के उच्च विचारों को ग्रहण करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दु-धर्म की अवमानना वे सहन नहीं कर सके। और उन्होंने हिन्दुओं को सावधान किया तथा बताया कि "स्वधर्मे निधनं श्रेय:", अपने प्राचीन धर्म पर अटल रहे, किसी प्रलोभन में न पड़े। यह कार्य भी बहुत दूरदर्शिता का था। दर्शन के क्षेत्र में "अद्वैतचिन्ता पद्धति" ग्रंथ वेदान्तदर्शन के मर्म को समझने केलिए लिखा था। "निजानन्द विलासम" एक ऐसी रचना है जो सिद्ध महापुरुष के जीवन के अनुभवों से सम्बन्ध रखती है। इसमें नौ प्रकरण हैं जो संसार से छूटने और परमपद-प्राप्ति से सम्बन्ध रखते हैं। गुरु-शिष्य संवाद की शैली में इसे लिखा गया है। इन समस्त ग्रंथों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद एक प्रतिभाशाली विद्वान थे और उनकी प्रतिभा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव और परोक्ष की जिज्ञासा को शान्त करने की दिशा में इन ग्रंथों से बहुत सहायता जिलती है।

डा० चन्द्रशेखरन नायर ने इस ग्रंथ के लेखन में अध्ययन और अध्यवसाय दोनों का भी परिचय दिया है। मैं इस ग्रंथ को पढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उन्नीसवीं सदी के इस महापुरुष का जीवन वृत्त उत्तर भारत में प्रचरित होना चाहिए। इस शताब्दी के अन्य महापुरुषों की भांति श्री विद्याधिराज तीर्थपाद भी एक महान सुधारक थे, विद्वान्, दूरदर्शी महापुरुष थे। उनकी गौरव गाथा दक्षिण तक ही सीमित बनी रही, यह हमारा दुर्भाग्य है। मलयालम में तो अनेक ग्रंथ उनके विषय में लिखे गये, परंतु हिन्दी में कोई प्रामाणिक पुस्तक न होने

से उत्तर भारत की जनता इन दिव्य महापुरुष से अपरिचित रही। डा० नायर की यह पुस्तक यद्यपि पौने दो सौ पृष्ठों की है, किन्तु उन्होंने चट्टम्पी स्वामी का पूरा जीवन वृत्त इसमें समेट लिया है। उनके उपदेशों का सार तथा कृतियों का परिचय पढ़कर हिन्दी भाषी जनता यह जान सकेगी कि जिस समय पूर्व और उत्तर में समाज-सुधारक जनजागरण का कार्य कर रहे थे उसी समय दक्षिण भारत के केरल प्रांत में मलयालम भाषा के माध्यम से एक महापुरुष जनता का उद्‌बोधन करने में संलग्न था और उसने अपनी दिव्यवाणी से ऋषि परंपरा को पुनर्जीवित किया था। केरल दार्शनिकों और मनीषियों का प्रदेश रहा है। उसी परंपरा में श्री विद्याधिराज तीर्थपाद उत्पन्न हुए और उन्होंने वही कार्य किया जो एक महान मनीषी करता है। मैं इस सुन्दर जीवनी-लेखन केलिए डा० चन्द्रशेखरन नायर को हार्दिक बधाई और साधुवाद देता हूँ। उन्होंने एक महापुरुष को हिन्दी जगत् के समक्ष लाकर पुण्यकार्य किया है। मुझे विश्वास है, उनकी लेखनी से केरल साहित्य और केरल के मनीषियों का हिन्दी भाषी समाज को इसी प्रकार परिचय मिलता रहेगा। मैं समस्त हिन्दी जगत् की ओर से उनका साधुवाद करता हूँ।

नई दिल्ली
30 नवंबर 1983

विजयेन्द्र स्नातक

उपोद्‌घात

डा० प्रभाकर माचवे

मेरे पास डा० नायरजी ने महर्षि विद्याधिराज महाराज की जीवनी और उनकी रचनाओं के कुछ अंश, इस प्रार्थना के साथ भेजे हैं कि मैं उनपर भूमिका के नाते कुछ लिखूँ।

मैं यह सब छपे हुए फर्मे दुबारा पढ़ गया और मेरा ज्ञान-वर्धन हुआ। दक्षिण भारत में श्री नारायण गुरु का नाम मैं जानता था, परंतु उनके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द से जिनका मिलन हुआ ऐसे चट्टम्पि विद्याधिराज के बारे में बहुत कम जानता था। इस जीवनी को पढ़कर पता लगा कि वे बहुत पहुँचे हुए साधक थे। और जैसा कि ऐसे महापुरुषों के जीवन में होता है, छोटी उम्र में उन्हें संसार की असारताबोध हो गया था। वे आगे चलकर बहुत बड़े अद्वैती और समाज-सुधारक भी हुए। जैसे उत्तर भारत में स्वामी दयानंद ने जाति-भेद को विनष्ट करने का यत्न किया, स्वामी विद्याधिराज ने भी ख्रिस्तीयन का विवेचन किया; वेदाधिकार केवल ब्राह्मणों को क्यों है, यह प्रश्न पूछा; और दर्शन में योग पर विशेष चिन्तन प्रस्तुत किया। 'निजानन्द विलास' उनकी और एक महत्वपूर्ण कृति है। अन्त में लेखक ने 'केरल की ऋषि परंपरा' देकर पाठकों को वहाँ रामकृष्ण के भक्त और उपासक तथा अन्य संतों के बारे में भी परिचित किया है।

वस्तुत: भारत में जाति-भेद और जन्मना ऊँच-नीच का विचार कब से आया, इसके बारे में अनेक मत हैं। डा० अंबेड़कर 'शूद्रों की व्युत्पत्ति' के बारे में और ही कारण देते हैं; और बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से यह समस्या सुलझेगी ऐसा मानते हैं। वास्तविकता यह है कि मनु-स्मृति के बाद ब्राह्मण-धर्म और पुरोहित वर्ग का वर्चस्व हिन्दू समाज में बढ़ता गया। इस्लाम और ईसाई मत की चुनौतियाँ तो थीं ही। इसका

परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण ही सारी संस्कृति के सर्वोच्च ठेकेदार अपने आपको मानने लगे। उसी के बाद वर्णों में छुआछूत और एक दूसरे से अत्यन्त अलगाव (एक्सक्लूसिविज़म) शुरू हुआ। अन्य बाहरी धर्मों में, मुस्लिम और काफिर, ईसाई और यहूदी ऐसे परस्पर विरोधी और धर्मांतर पर बल देनेवाले समूह बनते गये। उनके कारण हिन्दुत्व का आरंभिक सर्व-समावेशक रूप बदलता गया और सङ्कीर्ण होता गया। इस कारण से हिन्दुत्व कमज़ोर होता गया।

दक्षिण से ही वेदान्त के सारे आचार्य और भाष्यकर्ता उठे। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य आदि दक्षिण के चार राज्यों से ही हैं। उसी दक्षिण में सर्वाधिक छुआछूत और मनुष्य द्वारा मनुष्य की उपेक्षा धर्म के नाम पर चल पड़ी। बुद्ध और महावीर ने, मध्ययुगीन संतों ने—जैसे कबीर और दादू, बसवेश्वर और वेमना, नम्मालवार और नायन्मार आदि ने इसके विरोध में बहुत कुछ लिखा; और मानव-एकता के सिद्धांतों से प्रचारित-प्रसारित किया। परंतु इन सब प्रभावों के बावजूद हिन्दू समाज की सनातनी जकड़न कम नहीं हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी में सुधारवादी वैधानिक बुद्धिवादी विचारकों ने ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज आदि आंदोलन चलाये। महात्मा गान्धी ने हरिजनों को मुख्य धारा में मिलाने का बड़ा यत्न किया। पर दिखता यह है कि समस्या ने और जटिल राजनैतिक कट्टरता का रूप ले लिया। हर प्रदेश में, हर भाषा-समूह में ऐसे प्रयास हुए, परन्तु एकता जैसी चाहिए थी वह नहीं हो पाई।

इस परिप्रेक्ष्य में यह जीवनी काफी उपयोगी है। इससे पता चलता है कि सच्चे आध्यात्मिक मार्ग का पथिक कैसे समदर्शी होता है। वह मानव-मानव में प्रभेद करके सोचनेवाली खण्डित विचार-धारा को नहीं मानता।

यहाँ इस पुस्तक से कुछ उद्धरण देना चाहूँगा: "शूद्र का वेदाध्ययन का अधिकार ही नहीं, वेदकर्तृत्व भी था, यह सिद्ध करने केलिए एतरेय, कौषीतकी जैसे ब्राह्मणों में उल्लिखित दासीपुत्र कवष की कथा स्वामी जी प्रस्तुत करते हैं। कवष नामक व्याध यागादि में ब्राह्मणों के साथ आदर पूर्वक विराजमान था तथा सूक्त-द्रष्टा के रूप में

प्रसिद्ध भी हुआ। इसके अलावा मनुस्मृति आदि के उदाहरण देकर स्वामी जी यह प्रतिपादित करते हैं कि शूद्र को वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन के अधिकारों से वंचित रखनेवाली कोई घटना स्मृतियों में नहीं है। अपने कथन के समर्थन में स्वामी जी आपस्तंबसूत्र, जाबाल स्मृति, व्यास स्मृति, पराशर स्मृति, मीमांसाजनक आदि असंख्य प्रामाणिक ग्रन्थों का सहारा लेते हैं।

क्षत्रिय केलिए वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। किन्तु अध्ययन के अधिकार के साथ ही अध्यापन का अधिकार भी प्राप्त था, इस बात के प्रमाण-स्वरूप कई धर्म ग्रन्थों का अवलम्ब लेते हैं। साथ ही प्रारंभ में वेदाध्यापन का अधिकार मात्र क्षत्रिय का था, इस बात के प्रमाण भी उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। श्वेतकेतु नामक ब्राह्मण युवक अध्ययन की समाप्ति पर प्रवाहण नामक पांचाल नरेश के पास पहुँचता है और राजा उससे पांच प्रश्न पूछते हैं। ब्राह्मण युवक पराजित होकर पिता गौतम के पास पहुँचता है। गौतम राजा के पास आते हैं तो राजा की स्पष्टोक्ति है कि आपके पहले यह विद्या ब्राह्मणों को नहीं मिलती थी। यह विद्या समस्त संसार में पहले क्षत्रिय की थी। यही क्यों गार्ग्य आजातशत्रु से, उद्दालक जैसे ऋषि लोग अश्वपति से, शुक महाराज जनक से ब्रह्मविद्या सीख चुके थे। फिर क्षत्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार क्यों नहीं? स्त्रियों तक को वेदाधिकार से वंचित नहीं रखा गया था, इसके लिए गार्गी, मैत्रेई आदि की कथाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।" (पृ० 119)

पृ० 103 पर स्वामी जी के ईषवा जाति के लोगों के घर पर भोजन करने की बात को इस पुस्तक में इस तरह से कहा गया है: "वे निम्न वर्ण के कतिपय भवनों में भोजन भी किया करते थे। पूछने पर वे चुभता जवाब भी दिया करते थे कि मैं तुम्हारे घर से भोजन करता हूँ, तो कृष्णन और केशवन के घर से क्यों खा नहीं सकता। इसी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्री नारायण गुरु भी पहले से ही स्वामी महाराज के आज्ञाकारी शिष्य बने थे। श्री नारायण गुरु को स्वामीजी ने जब अपना शिष्य बनाया, तो मन में उनके द्वारा एक महान् लक्ष्य की पूर्ति की कल्पना की होगी। उनका सङ्कल्प यथार्थ हो गया। जहाँ,

स्वामीजी महाराज ने गुरु नारायण क साथ भोजन किया वहाँ गुरु नारायण ने उसी सन्देश को लेकर प्रचार करने का बोड़ा उठाया। उन दिनों नायर जाति और ईषवा जाति दोनों में स्पर्श भावना कठोर अवस्था में रही थी। नायर ऊँच जाति का और ईषवा नीच जाति का था। ईषवा जाति के घर से कोई नायर व्यक्ति जल भी पी नहीं सकता था। इन दिनों में उच्च वर्णवाले चट्टम्पि स्वामीजी निम्न जाति के नारायण को साथ बिठाकर भोजन किया करते थे। वस्तुत: स्वामीजी के ऐसे निर्भीक एवं दूरदर्शी व्यवहार से आशातीत फल प्राप्त हुआ। स्वयं स्वामीजी ने अपने इंगित से इस प्रथा का दोष मात्र दिखाया बस, पर, शिष्य नारायण गुरु ने उस संकेत को उज्ज्वल भविष्य के रूप में सफल बना दिया। आगे चलकर श्री नारायण गुरु का "एक जाति–एक धर्म–एक ईश्वर" वाला मन्त्र सर्वत्र मुखरित हो गया। नारायण गुरु ने प्रसिद्ध महाकवि कुमारनाशान को अपना आशय सर्वव्यापक बनाने में नियुक्त किया। कविवर आशान ने एक सुप्त-पतित जाति को जगाया और उसमें नवचेतना भर दी। कहने की आवश्यकता नहीं है, कि श्री विद्याधिराज महाराज की कामना कितनी पवित्र थी और कितनी शक्तिशाली थी।"

श्री नारायण गुरु इनके शिष्य थे यह बात भी मुझे इसी किताब से जान पड़ी। आचार्य विनोबा भावे ने अपने पद में, जो सायं-प्रार्थना में गाया जाता था—'श्री नारायण गुरु तू'—'ता ओ भी तू' आदि कहा है। परंतु, वे विद्याधिराज तीर्थपाद के इस स्वयं को तथाकथित हीन जाति के लोगों के साथ एकीकृत करने की बात शायद नहीं जानते थे।

स्वामी जी के जीवन में माता की मृत्यु गृहत्याग का निमित्त बनती है। परंतु लगता है कि योगशास्त्रों का और संस्कृत पुराणेतिहास तथा काव्यों का अध्ययन उनके मन में यह जीव-मुक्ति की धारणा बढ़ाने में सहायक हुआ। उनकी जीवदया और उनके द्वारा शिष्यों को सुनाई गई कहानियाँ बहुत कुछ रामकृष्ण परमहंस की याद दिलाती हैं। शूरनाट्टु कुंचनपिल्लै, के. भास्करपिल्लै आदि की दी हुई चमत्कार-पूर्ण स्मरणांजलि यहाँ दर्शनीय हैं।

वे दर्शन क साथ साथ साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इतने कुशल थे यह लक्षणीय बात है। स्वामी विवेकानन्द तबला बजाने में कुशल थे। स्वामी रामतीर्थ गज़ल और गीत लिखते-गाते थे। अन्य कई ऐसे सिद्धपुरुष साहित्य रचना में पारंगत थे। श्री नारायण गुरु ने अपने गुरु के बारे में ठीक ही लिखा है :—

सर्वज्ञ ऋषिरुत्कांत: सद्गुरु: शुकवर्त्मना
आभाति परमव्योम्नि परिपूर्ण कलानिधि:

मैं पुन: डा० नायर को बहुत बहुत धन्यवाद देता हूँ कि ऐसी अच्छी पुस्तक उन्होंने हिन्दी में लिखी और मुझे पढ़ने का मौका दिया।

जितने ही हम ऐसे साधुपुरुषों के जीवन और कार्यों से सुपरिचित होंगे, उतना ही हमारा केवल ज्ञान-वर्धन नहीं होगा, चित्त को तोष मिलेगा और आत्मोन्नति होगी।

पुस्तक में कई जगह पुनरावृति है। विभिन्न लोगों के लेखन से ये अंश लिये हैं, इस कारण से ऐसा हो सकता है। पुस्तक की भाषा प्राँजल और प्रवाहमयी है। विश्वासुओं केलिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

कलकत्ता
16-6-'83

डा० एन० चन्द्रशेखरन नायर

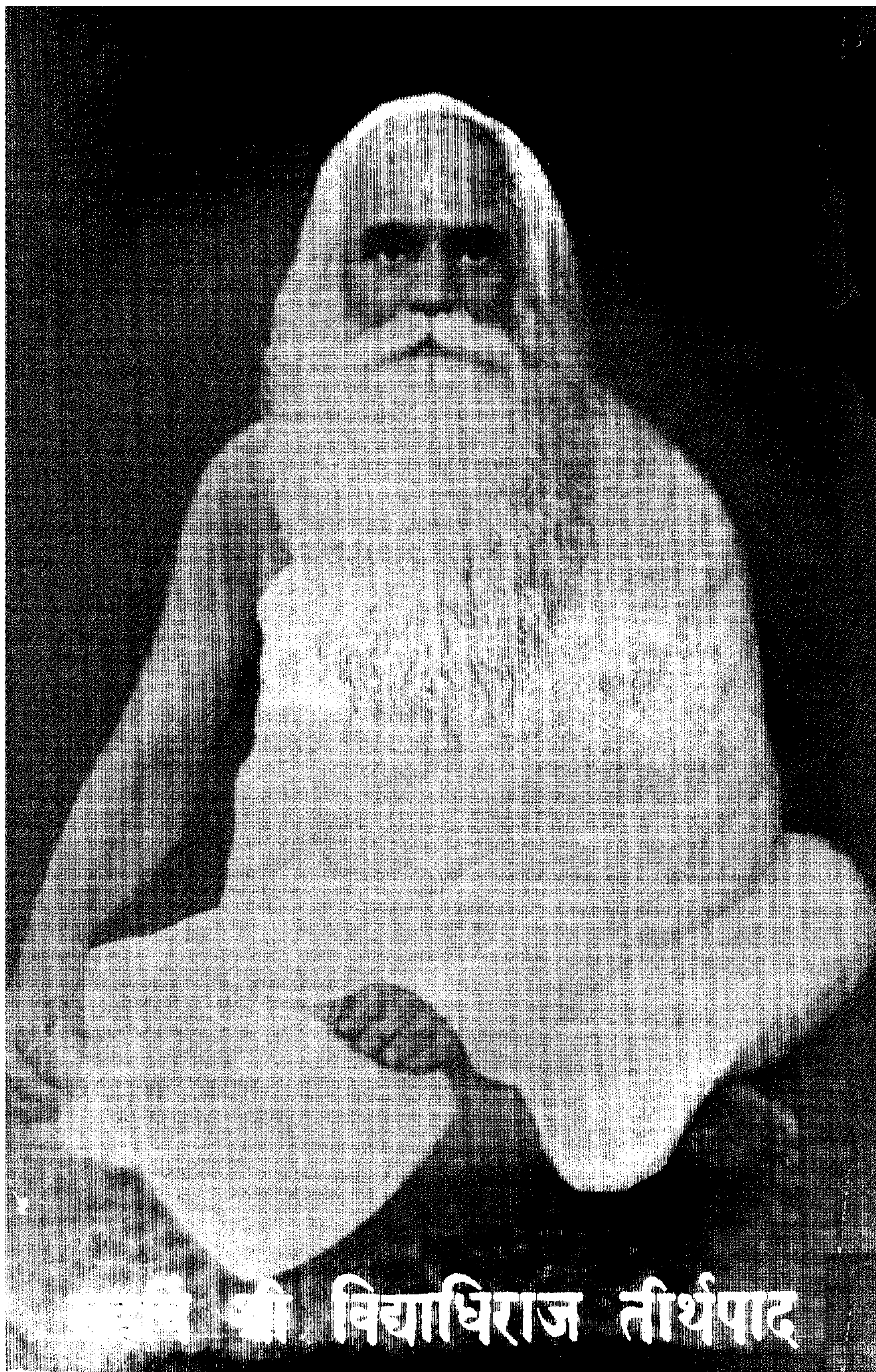
*"डा० एन. चन्द्रशेखरन नायर मलयालम भाषा के श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित लेखक हैं ही; किन्तु हिन्दी लेखकों में भी उन्होंने अपना महत्वपूर्ण एवं मौलिक स्थान बना लिया। हिन्दी लेखकों में उनका स्थान अहिन्दी भाषा के हिन्दी लेखकों की प्रथम पंक्ति में होने के साथ-साथ शुद्ध हिन्दी भाषा लेखकों में भी विशिष्ट बन गया है। इसके मुख्यत: दो कारण हैं। पहला कारण तो है उनकी भाषा की शुद्धता, संस्कृत-निष्ठता, प्रांचलता और प्रवाहशीलता। उनकी यह भाषागत विशेषता उन्हें सहज ही हिन्दी भाषी, हिन्दी-लेखकों की पंक्ति में सम्मानित स्थान प्राप्त करने देने में सक्षम है। उनकी भाषा साहित्यिक सुष्ठुता, लालित्य, प्रवाहशीलता और प्रभावान्विति से इतनी परिपूर्ण है कि सहज ही विश्वास नहीं होता कि यह किसी दक्षिण भारतीय लेखक द्वारा लिखी गयी भाषा है। दूसरा कारण है उनके साहित्य का कथ्य। इस कथ्य-गत विशेषता के कारण उन्हें और उनके साहित्य को राष्ट्रीय स्तर का लेखक स्वीकार किया जा सकता है। उनके साहित्य के कथ्य का मूल स्वर है—भारतीय संस्कृति, समाज ओर जीवन का ऐसा जीवंत मानवतावादी संदेश जो आज की बदली हुई परिस्थिति में ही नहीं, वरन हर काल के संक्रमणशील परिवेश में न केवल उन्नयन की प्रेरणा का आधार बनता है, अपितु जीवन और मानव मात्र के प्रति नवीन आस्था, विश्वास से निष्ठा और सौहार्द का संचार करता है। यदि कथ्य की स्थूलता से ऊपर उठकर संदेश की सूक्ष्म संवेदनशीलता की दृष्टि से देखा जाय तो उनके साहित्य के संदेश को सहज ही देश काल की सीमा से ऊपर विश्व मानवता के संदेश की गरिमा दी जा सकती है।

डा० रामगोपाल सिंह चौहान

*चन्द्रशेखरन नायर साहित्य से साभार

विषय-सूची

	पृष्ठ-संख्या
प्राक्कथन — लेखक	५
भूमिका — डा० विजयेन्द्र स्नातक	११
उपोद्घात— डा० प्रभाकर माचवे	१७
डा० एन. चन्द्रशेखरन नायर — डा० रामगोपाल सिंह चौहान	२२
महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद की जीवनी	२५
सिद्धपुरुष स्वामी जी महाराज	३५
सर्वकलावल्लभ स्वामीजी	९१
श्री विद्याधिराज महाराज और स्वामी विवेकानन्द	९५
श्री विद्याधिराज महाराज की जन-सेवा	९८
महर्षि श्री विद्याधिराज महाराज की रचनाएँ:	१०५
प्राचीन मलयालम	१०९
जीवकारुण्य निरूपणम्	११३
वेदाधिकार निरूपणम्	११६
क्रिस्तुमत निरूपणम्	१२१
अद्वैत चिन्तापद्धति	१२८
स्वामीजी के दार्शनिक चिन्तन	१४०
निजानन्द विलासम्	१४९
केरल की ऋषि परम्परा और महर्षि श्री विद्याधिराज	१५३
स्वामी श्री विद्याधिराज महाराज के शिष्य :	१६२
श्रीनारायण गुरु	१६३
श्री नीलकण्ठ तीर्थपाद स्वामी	१६८
श्री तीर्थपाद परमहंस स्वामी	१७२
सन्दर्भ-ग्रन्थ और लेख	१७४–१७६
अष्टोत्तरशत प्रणामांजलि (श्री तुलसीवनं)	१७७–१८२
चन्द्रशेखरन नायर की जीवन रेखाएँ	१८२-१८४


विद्याधिराज तीर्थपाद

महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद की जीवनी

महर्षी विद्याधिराज तीर्तपाद का जन्म सन् ११ अगस्त १८५३ के शुभ दिन में हुआ। उनका जन्मस्थान तिरुवनन्तपुरम के पास का कोल्लूर नामक गाँव है। उनके पिता वासुदेव शर्मा एक नम्पूतिरी ब्राह्मण थे और माता एक गरीब नायर परिवार की स्त्री थी; नाम था नङ्ङम्म पिल्लै। माता-पिता का दिया गया नाम था अय्यप्पन; पर बचपन से कुंजन नाम से बुलाये जाते थे।

दरिद्र माता अपने बच्चे को स्कूल भेजकर पढ़ाने में असमर्थ थी। पिता वासुदेव शर्मा भी दरिद्रता से विवश थे। कुंजन समवयस्क बालकों को पासवाली पाठशाला में बैठकर पढ़ते हुए देखता था। बालक कुंजन के मन में पढ़ने की इच्छा बलवती होती थी। पर, उन बालकों के साथ बैठकर पढ़ने की सुविधा कैसे मिलती? आखिर, एक दिन कुंजन ने पाठशाला के एक बालक के हाथ की पट्टी देखकर उसकी मदद से दो-चार अक्षर पढ़ लिए। उस दिन से दोनों बालकों में मैत्री स्थापित हुई और कुंजन ने इसप्रकार उसी बालक की सहायता से प्रारंभिक पाठ सीख लिए।

कोल्लूर के एक ब्राह्मण परिवार के साथ कुंजन का परिवार परिचय में था। उस घर में कुंजन और उसकी माता दोनों का आना-जाना होता था। उस परिवार के बच्चों को एक परदेसी ब्राह्मण शिक्षा देते थे। जब कभी कुंजन वहाँ आता तब वहाँ के बालकों को उस परदेशी ब्राह्मण के सामने बैठकर पढ़ते हुए देखता था। उस परिवार की स्त्री कुंजन को खाना देती थी। कुंजन इतने से प्रसन्न नहीं होता था। ब्राह्मण शिक्षक के संस्कृत अध्यापन से वह आकृष्ट हुआ। जहाँ पण्ड़ित जी बैठकर बालकों को संस्कृत पढ़ाते थे उसके पीछे की दीवार की आड़ में खड़े होकर कुंजन वहाँ दिये जानेवाले काव्य-पाठों को ध्यान से सुन लेता था और एक ही बार सुनकर उन्हें कण्ठस्थ कर लेता था। लगभग साल भर यह

क्रम चलता रहा। इसके बाद ही पण्डित जी को मालूम हुआ था कि मेरे एक अज्ञात शिष्य भी होता है। जब ही उन्हें पता चला, तब ही शिक्षक ने उस बालक की योग्यता का परीक्षण किया और बहुत ही प्रसन्न हुए कि बालक कुञ्जन ने उनके दिये गये सारे काव्य-पाठ गुरु जी को सुना दिये। तब, फिर गुरु ने उस बालक को शेष पाठ भी दिल से पढ़ा दिये।

कुञ्जन समीप वाले मन्दिर के लिए फलों की माला पिरोकर देता था। एक दिन वहाँ एक सन्यासी से कुञ्जन का साक्षात्कार हुआ। दो-चार दिनों तक साधू वहाँ रहते थे। बालक कुञ्जन ने उस सन्यासी की यथासाध्य सेवा की। सन्यासी बालक का सरल स्वभाव तथा सेवा से प्रसन्न हुए। वहाँ से जाते हुए उन्होंने बालक कुञ्जन को 'बाला सुब्रह्मण्यम्' का मंत्रोच्चारण उपदेश रूप में बता दिया। उन दिनों कुञ्जन तेरह-चौदह साल का था। साधू का मंत्रोपदेश कुञ्जन ने बड़ी लगन से अपनाया और लाखों की संख्या में उस का जाप किया। इसी निष्ठा-पूर्ण आचरण के बाद ही बालक कुञ्जन के जीवन मे आशातीत परिवर्तन आ गया था। कुञ्जन को नयी स्फूर्ति का अनुभव होने लगा। उसका मन स्वस्थ एवं स्फूर्त हुआ। जीवन का भविष्य स्पष्ट प्रकट होने लगा। हृदय में एक दिव्य जीवन की कामना होती रही।

इसके बाद कुञ्जन तिरुवनन्तपुरम के पेट्टा नामक जगह आया और वहाँ के प्रसिद्ध संगीतज्ञ रामन पिल्लै आशान का शिष्य बनकर संगीत का प्रारंभिक अभ्यास कर लिया। आशान ने अपने प्रिय शिष्य को तमिल भाषा भी सिखा दी। आशान कुञ्जन के बाल-सहज सामर्थ्य और कार्य-पटुता को देखकर अतीव प्रसन्न हुए और अपने शिष्य को पाठशाला के 'चट्टम्पी' (क्लासलीडर) का पद दे दिया। इसके बाद ही कुञ्जन जीवनपर्यंत चट्टम्पी उपनाम से जाने जाते थे।

पेट्टा की पाठशाला और उसके संचालक प्रशस्त गुरु रामन पिल्लै आशान के सम्पर्क से कुञ्जन का चरित्र भविष्य के कठोर संयमी जीवन के लिए अवलम्ब प्राप्त करता गया। अपने सहपाठियों के साथ रहते हुए कुञ्जन चट्टम्पी केवल बौद्धिक शिक्षा ही प्राप्त नहीं करता था, अपितु वह शारीरिक एवं आध्यात्मिक प्रशिक्षण भी प्राप्त करने का मौका ढूँढ़ लिया करता था। रामन पिल्लै आशान के यहाँ अनेक प्रकार के लोगों का संगम होता था। शिक्षित लोगों के साथ कलाकार, वेदांती, मीमांसक और श्रेष्ठ वक्ता भी वहाँ एकत्रित होते थे। शारीरिक शिक्षण का अभ्यास भी वहाँ युवकों को दिया जाता था। इसप्रकार आशान की पाठशाला एक प्रकार से एक ग्रामीण सर्वकला शाला थी। युवावस्था में पहुँचने कर कुञ्जन चट्टम्पी अनेक

विषयों की ओर जिज्ञासू बना । लेकिन, सब के मूल में सत्य के प्रति निष्ठावान रहा । जीवन के अनेक कार्य-व्यापारों में व्यापृत रहने पर भी कुंजन का मन किसी अलौकिक एवं असाधारण दिव्य आलोक की ओर सदैव आकृष्ट होता रहता था । यही कारण था कि अपने सहपाठियों को तमाशा में लगे हुए देखकर भी कुंजन चट्टम्पी एकांत प्रिय रहता था । रात में जब सारे मित्रों का खेल-विनोद में मग्न होते देखकर वह समीपस्थ देवी मन्दिर के एकांत वातावरण में जाकर बैठता था । परन्तु, शुभ कार्य में भी दोष ढूँढ़ निकालनेवाले लोग हर जगह और हर युग में होते ही हैं । कुंजन के सहपाठियों में ऐसी एक शंका अंकुरित हुई । रात में कुंजन के अंतर्धान का रहस्य उन्होंने अन्यथा मान लिया । शिष्यों के रहस्य-सन्देशों से शंकित आशान ने एक दिन कुंजन चट्टम्पी की रात्रींचारिता पर चिंतित होकर रहस्य को खोज निकालने का ही निश्चय कर लिया । तुरंत ही शिष्यों को साथ लेकर हाथ में मशाल लिए रामन पिल्लै आशान दो-चार ऐसे भवनों में चट्टम्पी को खोजा, जहाँ-जहाँ उनके होने की उन्हें आशंका थी । पर, उन जगहों में वह नहीं मिला, तो गुरु का उतावलापन और बढ़ गया । अंत में गुरु और शिष्यों ने मिलकर चट्टम्पी को खोज निकाला । उन्होंने देखा कि एक मंदिर के देवी विग्रह के सामने कुंजन चट्टम्पी ध्यानावस्थित भाव में लीन है । उसे अपने गुरु एवं सहपाठियों के आगमन का पता ही नहीं लगा । लेकिन, अपने प्रिय शिष्य की ऐसी भाव तल्लीनता देखकर गुरु रामन पिल्लै आशान गद्गद हो गये । और स्वयं अपनी बेवकूफी पर पछताये ।

भूख से पीडित मनुष्य को वेदांत और ईश्वर-ध्यान भी कठोर लगेगा । कुंजन की माता भूखी रहती थी । इसलिए माता के संरक्षण को मानकर पुत्र को कठोर परिश्रम करना पड़ा । उन दिनों त्रिवेंद्रमवाले सचिवालय का मकान बन रहा था । कुंजन वहाँ एक साधारण कुली का काम करने लगा कि उस मजदूरी से माता का सरक्षण कर सके । यह काम तब तक चलता रहा जब तब कुंजन का एक बन्धु उसे अपने साथ नेय्याट्टिनकरा ले गया और 'सब रजिस्ट्रार ऑफीस' के पत्र-प्रमाणों की नकल करने के काम में लगा दिया । उसका बन्धु कृष्णपिल्लै बाद में कुछ दिनों तक भूतप्पांड़ी गया और वहाँ कुंजन के साथ रहते हुए 'सब-रजिस्ट्रार आफीस' के पत्र-प्रमाण की नकल में लग गया था । भूतपांडी में कुंजन को तमिल ग्रंथों की पांडुलिपियाँ पढ़ने की सुविधा मिली थी और उस कार्य में वह अतीव समर्थ हो गया ।

श्री कृष्ण पिल्लै ने अपने भाई कुंजन के बारे में निम्न प्रकार लिखा है: "माता जी की प्रेरणा से कुंजन मेरे साथ पत्र-प्रमाण की नकल करने आया था ।

यह कोई सरकारी काम तो नहीं है । एक पत्र-प्रमाण की नकल करने पर एक राशि मज़दूरी मिलेगी । नेय्याट्टिनकरा मे मुख्य लेखक (पत्र प्रमाण नकल के लेखक) थे षड्मुखं सुन्दर पिल्लै । वे सुब्रह्मण्य के उपासक थे और कुंजन भी सुब्रह्मण्य के उपासक थे । इसलिए दोनों में स्नेह-बंधन रहा था । इसके अलावा कुंजन की लिखावट अतीव सुन्दर थी । प्रथम दिन कुंजन को आठ राशि मिली । यह तो कोई नियम नही कि सब दिन आठ राशि मिले । ऐसे दिन भी आते थे जिन दिनों में कुछ भी नहीं मिलता था । कुंजन अपनी आठ राशि माता को भेज देता । मुख्य लेखक सुब्रह्मण्य ने अपने दफ्तर में यह नियम बनाये रखा था कि काम हो, या न हो, कुंजन को प्रतिदिन आठ राशि दी जाए । कुंजन अपनी राशि से उतना मोह नहीं रखता था । जिस दिन दूसरों को कुछ न मिलता उस दिन कुंजन अपनी राशि सह-लेखकों मे बाँट देता । कहता कि उनकी भूख भी मेरी ही भूख है । भूतप्पाण्डी से लौटते वक्त मैं घबरा रहा था कि कुंजन अकेले ही लौटता है । उन दिनों एकांत रास्ते से अकेले चलना आपत्ति को मोल लेना था । पर कुंजन निर्भय था और कहता था कि मेरा कोई कुछ न विगाडेगा । जैसे उसने कहा था वैसे वह सकुशल घर पहुँच गया था, पर मुझे तभी शांति मिली जब उसका पत्र मुझे मिल गया । मुझे यह पसन्द नहीं था कि वह त्रिवेंद्रम जाकर रहे । क्योंकि मैं डरता था कि त्रिवेंद्रम में वह अपनी कुश्ती और वेदांत में समय लगा देता और जो समय बच जाता उसे व्याख्यान देते हुए बरबाद कर देता । इसलिए मैंने उसे नेय्याट्टिनकरा में रहने दिया था । पर कुंजन का मन पत्र-प्रमाण की नकल करने में नहीं रम गया । वह उस काम से उदासीन होता गया । उसके मन में एक प्रकार की चिंता हमेशा बनी रहती थी, जो बिलकुल अनोखी और बलवती थी । वह त्रिवेंद्रम लौट गया और आगे दरिद्रता का अनुभव भी करने लगा ।

लगभग एक महीने तक सरकारी नौकरी करने का अवसर कुंजन को प्राप्त हुआ । सर. टी. माधव राव दीवान रहे थे । उन्होंने हुजूर कचहरी में कुछ लेखाकारों की नियुक्ति करने का निश्चय किया । बहुत से युवकों ने परीक्षा दी और सब के सब योग्य स्थापित हुए । तब विशेष रूप से उन्हें कुछ गणित-प्रश्न दिये । सारे परीक्षार्थियों के उत्तर एक जैसे मिले, तो दीवान को संदेह हुआ कि इसमें किसी का हाथ है । पूछा गया, तो मालूम हुआ कि इसमें कुंजन ने सबको मदद दी है । आखिर कुंजन बुलाया गया और दीवान द्वारा कुंजन परीक्षित हुआ । कुंजन ने सब प्रश्नों का उत्तर अपनी उँगली के हिसाब से दिया । इसपर दीवान दंग रह गये । दीवान ने कुंजन को चार रुपये वेतन पर नौकर नियुक्त किया । मासांत में कुंजन की सामर्थ्य को मानकर पुरस्कार के रूप में उसे दस रुपये दिये गये । लेकिन

कुंजन ने केवल चार ही रुपये लिए और शेष रुपये लौटा दिये। कहा कि जो रुपये मेरे लिए निश्चित नहीं है, उन्हें लेना ठीक नहीं है। बाद में वह नौकरी भी कुंजन ने छोड़ दी। कुंजन के अफसर श्री त्रिविक्रमन तंपी उग्र तथा रूखे स्वभाव के आदमी थे। कुंजन ने कुछ दिनों की छुट्टी माँगी, तो तंपी जी ने छुट्टी लेने नहीं दिया। कुंजन ने अपनी माँग बार-बार प्रकट की तो नाराज़ होकर अफसर ने आज्ञा दी कि छुट्टा नही दी जायगी और कल अवश्य आना चाहिए। मैं देखूंगा, कुरसी पर। कुंजन किसी की अनुचित आज्ञा को माननेवाला नहीं था। कहा कि जब मैं आकर कुरसी पर बैठूंगा तब देख लेना। उसी दिन कुंजन ने कचहरी छोड़ दी।

रामन पिल्लै आशान उन दिनों काफी प्रशस्त थे। केवल पाठ्य-पद्धति के आधार पर वहाँ का अध्ययन नहीं चलता था। शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास की शिक्षा वहाँ भिन्न रुचि के युवकों को प्राप्त होती थी। ऐसे युवकों में सब के आगे रहता था कुंजन और सहविद्यार्थियों एवं शिक्षक की विशेष प्रशंसा का पात्र था। प्रशांत सन्ध्या बेलाओं में रामायण का सुमधुर पाठ करके वह सब को भक्तिगंगा में निमग्न कर देता था। संगीत की विशेष ध्वनियों-रागों से वातावरण को मंत्र मुग्ध कर देता था। पश्चिमी सागर के तट पर साथियों के साथ खड़े रहनेवाले कुंजन का मन किसी अवाच्य रहस्य भावना से सान्द्र-मधुर हो जाता था। खुले खेतों में पक्के धान के बीच कुंजन का हृदय कवित्व भावना से तरलित होता था। एक अनंत तथा अनिर्वचनीय महता का सामीप्य उसे हरदम सचेत किये रहा था। 'चट्टम्पी' का पद भी कुंजन को वस्तुतः शोभा देता था।

इन्हीं दिनों में भी कुंजन चट्टम्पी का मन रूढ़ एवं अंध विश्वासों के विरुद्ध संघर्ष-रत रहा था। पेट्टा में अनेक अवर्ण लोग रहते थे। ईषवा समुदाय भी निम्न वर्ण का माना जाता था। नायर समुदाय का कोई व्यक्ति उन्हीं लोगों के घर जाने का साहस नहीं करता था। छुआ-छूत का नग्न स्वरूप देखने को मिलता था। कुंजन चट्टम्पी का मन विक्षुब्ध हो उठता कि मनुष्य-मनुष्य के बीच में यह अंतर कैसा है? इसमें क्या रहस्य है अथवा तत्व है? यह केवल परंपरा की मिथ्या मात्र है। जो गलत रूप से पैदा हुआ उसे सही मानकर उसका पालन किया जाता है। किसी स्वार्थी सम्प्रदायी आचार्य की यह घृणित कृति है। जाति-पांति की व्यवस्था इतनी घृणित है कि जितनी जल्दी इसका उन्मूलन कर दें उतना अच्छा है। इस अंध परंपरा को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए। जब तक इस कलुषित तथा दूषित व्यवस्था का अंत नहीं किया जाता तब तक मनुष्य जाति का शोभन अभीप्सित नहीं हो सकता। सारी नदियाँ समुद्र में बिलान हो जाती हैं। सारी जातियाँ

मनुष्य में लीन होकर समान बन जाती हैं, यही धारणा 'चट्टम्पी' में दृढ़–बद्ध हो गयी। इस बद्ध–मूल धारणा को उन्होंने अपने सह–पाठियों और मित्रों के सामने खोलकर प्रकट किया। उन दिनों यह एक अत्यंत साहसपूर्ण कार्य था कि इस प्रकार के स्वतंत्र विचारों को दूसरों के सामने प्रकट करे। क्योंकि जाति और उसका बंधन इतना मज़बूत था कि उसको तोड़ने की कल्पना तक कोई कर नहीं पाता था। परन्तु, फिर भी चट्टम्पी अपने निर्भीक स्वभाव के लिए स्वयं दृष्टांत थे। वे कृत-संकल्प बने कि मनुष्य ने अपने अहं से मूढ़ विश्वासों का प्राचीर खड़ा कर दिया है। उसे तोड़–फोड़ कर देने से सत्य की स्थापना हो सकती है। जो सत्य है उसको असत्य से बचाना संभव नहीं है। इसलिए सत्य को बचाने के लिए सत्य का ही मार्ग स्वीकार करना है। यदि मैं स्वयं इसके लिए कटि-बद्ध नहीं होवूँगा, तो कौन आयेगा, जो अपना धैर्य प्रकट करे। मैं देखता हूँ, यहाँ मनुष्य दूसरे मनुष्य से कोसों दूर है, जाति के कारण। केवल मिथ्या धारणा के बलपर उसी पंकिल व्यवस्था को चिरस्थाई बनाने का यत्न ही चलता है। यह घोर अन्याय है! इसे अपनी आँखों के आगे करने देना भी महा–पाप है। इसका अंत होना ही चाहिए! चट्टम्पी स्वयं उग्र रूप धारण कर गये। वे घर–घर गये और अपने आशय का प्रचार–कार्य प्रारंभ कर दिया। आसपास के ईषवा समुदाय के घरों में भी वे निर्बाध–जाने लगे। यही नहीं, उनके साथ उठने-बैठने लगे और उन्हें विश्वास दिलाने के लिए उनके घर से भोजन भी करने लगे! इतना बड़ा साहस उस समय केरल में किसी भी सुधारक अथवा वीर पुरुष ने नहीं किया था। स्वयं आशान रामन पिल्लै भी जातीय रूढ़ि-बंधनों में जकड़े रहे थे। जब उन्होंने जाना कि चट्टम्पी ने ईषवा जाति के डा० पल्पु के यहाँ से भोजन किया, तब अपने शिष्य से इस संबन्ध में जवाब तलब की। पर, चट्टम्पी का जवाब सुनकर गुरु रामन पिल्लै अवाक् रह गये। चट्टम्पी ने अपने आदरणीय गुरु से कहा; "जब मैं आपके घर से भोजन करता हूँ तब डा० पल्पु के घर से क्यों न करूँ?

रामन पिल्लै आशान का यहाँ तक पता नहीं चला था कि सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध युवक चट्टम्पी के दिल में विद्रोह की भावना कितनी तेज थी। अवर्ण के छुए अन्न को खाना आदम को मना फल जैसा था! पतनोन्मुख होनेवाली एक जाति की ओर चट्टम्पी ने उँगली उठायी थी। चट्टम्पी के क्रान्तिकारी व्यवहार से उनके मित्रों में भी खलबली मच उठी। ट्रिवेंड्रम के सवर्ण हिन्दुओं में चट्टम्पी के विरुद्ध निन्दा की भावना अंकुरित हुई। उन्होंने चट्टम्पी की भर्त्सना की। लेकिन चट्टम्पी ने इस निन्दा की बिलकुल परवाह नहीं की। यही नहीं, पूर्वाधिक अपने

सदेशों ने मित्रों में विचार-मंथन पैदा किया । आज अनेक वर्षों के बाद केरल की जनता उस महायोगी भीष्मव्रती युवक की उदात्त एवं गंभीर प्रकृति की ऋणी तो है । इसके बाद विवेकानन्द और महात्मा गान्धी के प्रभाव से सारे भारत में इसी भावना की लहर जब दौड़ गयी, तो चट्टम्पी की उदार-चेता मनोवृत्ति और सशक्त चेष्टा की छाप कितनी मोहक बन गयी है !

चट्टम्पी का विश्वास कि समाज में एक जाति का होना ही समाज-मंगल का मूल स्रोत है, दिन-ब-दिन बल पकड़ता गया । इसका परिणाम शुभद एवं प्रोज्ज्वल रहा । चट्टम्पी की इस क्रांति भावना के साथ उनकी स्मरण शक्ति भी गजब की थी । मोम पर लगी मुहर की तरह एक बार सुनी या पढ़ी बात को, चाहने पर भी वे भूल नहीं सकते थे । इस अद्भुत वरदान जैसी सिद्धि के कारण उनकी प्रतिभा को बढ़ने में अपूर्व सन्दर्भ प्राप्त हुआ । जितने भी विषय सामने उपस्थित होते उन सब को समझने और उसपर अगाध ज्ञान पा लेने का उन्हें बल प्राप्त होता । जैसे वे गुरु-जनों तथा बड़े-बूढ़ों के प्रति विनम्र थे वैसे जीवों के प्रति भी अपार ममता प्रकट करते थे । यदि कहीं किसी प्राणी को अपने प्रति क्षति या कष्ट हुआ तो कई दिन तक उन्हें शांति नहीं हुई । हमेशा चिंतातुर बने रहते । प्राणियों के प्रति इतना स्नेह-भाव था कि वे अनायास ही उनके क्रिया-कलापों में दत्त-चित्त रहते और अपने पास आनेवाले क्षुद्र प्राणियों को भी करुणा-कलित आँखों से देखते रहते । पीछे केरलीय जनता इस महती मानवीय वृत्ति का परिणाम खूब देख सकी । पर, उन परिचित भक्त जनों को इसका क्या पता था कि इस योगी के बचपन में भी प्राणियों के प्रति कितना अपार वत्सल-भाव रहा था । चट्टम्पी जितने संवेदनशील रहे थे उतने ही कायिक बल प्राप्त करने में भी जागरूक रहे थे । सब प्रकार के खेलों में वे तत्पर थे । समवयस्क युवकों के साथ रेतीले मैदान में खूब पहलवानी करते । संगीत के मर्म को समझना, उसपर प्रयोग करना, अनेक प्रकार के बाजे बजाना, कथकलि के श्लोकों को कंठस्थ कर उसे हमेशा रटते रहना, उसकी हस्त–मुद्राओं में तत्परता दिखाना, चित्र–रचनाओं का बीच–बीच में प्रयोग कर देखना, आदि असंख्य कलात्मक, साहित्यिक विषयों के प्रति युवावस्था में ही चट्टम्पी को असीम अभिवांछा रही थी ।

चट्टम्पी रामायण, भारत, भागवत आदि ग्रंथों को अनेक बार पढ़ चुके । उनमें निहित सार–तत्वों के प्रति उन्मुख होकर उनपर विचार करते । बाद में कैवल्य नवनीत जैसे तमिल ग्रंथों का अध्ययन किया । परिणामतः मीमांसा ग्रंथों के प्रति अनुराग बढ़ने लगा ।

चट्टम्पी को यह अनुभव हुआ कि गहरा ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब कोई श्रेष्ठ-गुरु मिलें। अब तक जो-जो विद्याएं प्राप्त कीं उनके अभ्यास में स्वाध्याय ही काम आया। अब उत्तम गुरु को पाने से ही काम सफल हो सकता है। हां, वह गुरु कहाँ मिलेंगे? इस अभिवांछा से तरलित होकर चट्टम्पी उत्कंठित रहते।

कहीं रास्ते से किसी काषाय वस्त्रधारी दिखाई दिये, तो चट्टम्पी आकृष्ट हो गये। उनके समीप पहुँचकर यह जानने की चेष्टा करते कि वे कैसे हैं और उनका ज्ञान कितना गहरा है। उनमें क्या असाधारणता है? इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर चट्टम्पी ने अनेक सन्यासियों और साधु पुरुषों का अनुगमन किया है। ऐसी पूर्व घटनाओं में एक घटना विशेष उल्लेखनीय है। 'सद्गुरू' नामक मासिक पत्रिका में इस घटना का उल्लेख बाद में हुआ है। इस घटना के बारे में उस लेखक[1] को जानकारी प्रदान की है एक सन्यासी ने, जो स्वयं महर्षि श्री चट्टम्पी स्वामी के शिष्य थे।

श्री पद्मनाभ स्वामी मंदिर[2] के समीप का एक घर। बहुत से लोग उस घर में आगत होते हैं। गृहस्वामी लोगों का यथोचित स्वागत-सत्कार करते हैं। आगतों एवं गृहस्वामी के व्यवहार से यह स्पष्ट है कि वहाँ किसी के मृत्यु-पिंड का पर्व मनाया जा रहा है। दावत का समय आया। आमंत्रित लोगों ने भोजन किया। उनकी जूठन बाहर फेंकी गयी। वहाँ कुत्ते जुट गये। उनके बीच में एक वृद्ध जो फटा-पुराना चिथड़ा पहना हुआ है-जूठन के पत्ते हाथ से लेकर शेषान्न चाट रहा है। बीच-बीच में कुत्तों को अपने शासन के अधीन कर रहा है। वहाँ एक नटखट लड़का यह दृश्य देख रहा था। उसने वृद्ध की पीठ पर एक बड़ा पत्थर पटक दिया। वृद्ध गिर पड़ा। कुत्ते डरकर हट गये। लड़के के दोस्त, खड़े अपने मित्र की बहादुरी पर तालियाँ बजाकर अभिनन्दन करने लगे। वृद्धने जूठन के पत्तों पर से उठकर किसी प्रकार के भी भाव को मुख पर न लाकर लड़के की ओर देखा और मुस्कुराते हुए वहाँ से हट गया। ये सारी घटनाएं वहाँ उस सन्दर्भ में बिलकुल गौण थीं और देखते-देखते समाप्त भी हो गयीं।

एक युवक, जो उस पर्व में भाग लेने आया हुआ था, यह सारी घटनायें

1 लेखक — परूर के गोपाल पिल्लै — 'श्री चट्टम्पी स्वामी तिरुवटिकळ' पृ. २१-२३

2 श्री पद्मनाभ स्वामी मंदिर त्रिवेन्द्रम में स्थित प्रसिद्ध मन्दिर है।

बड़े कौतूहल के साथ देखता रहा था। आखिर उसे लगा कि उस वृद्ध की चेष्टा में ऐसी एक बात अवश्य है, जो बिलकुल असाधारण और विचित्र है। उसका हृदय पिघल गया और वह वृद्ध के पीछे–पीछे चला। वृद्ध सीधे चला जा रहा था, न पीछे को फिरकर देखता था अथवा न कहीं रुककर खड़ा होता था। उसकी चाल ऐसी थी, मानों कोई नौजवान चलता हो। कुमार उसका पीछा करता रहा। बड़ी सड़क को छोड़कर उपवीथि पर से आगे बढ़ा। कुमार भी उसके पीछे से उसी चाल से चलता गया। राह चलते हुए यात्री इनकी चाल पर ध्यान नहीं देते थे। करीब दस-बारह मील दूरी तक यह यात्रा होती रही ! रास्ते छोड़कर जंगल में प्रवेश हुआ। चढ़ाव-उत्तार पत्थर-काँटे, सब को पार कर जंगल के एक बिशाल मैदान में पहुँचे। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पेड़ और चट्टान खड़े थे। सूरज अस्त हो रहा है। भूख–प्यास से पीड़ित एवं यात्रा के क्लेश से खिन्न कुमार का मुख अस्तगामी सूर्य की किरणों में चमक उठा। इतने में वृद्ध ने एकदम एक घोर अट्टहास किया और कुमार मूर्छित गिर गया। कौन जाने, उस घोर वन में फिर क्या घटना हुई होगी।

सबेरा हुआ। सूरज का उदयाद्रि पर उदय हुआ। श्लथगत पक्षी प्रभात लक्ष्मी का स्तुतिगान करने लगे। युवक वृद्ध की गोदी पर सिर रखकर ऊपर आकाश को ओर देखता हुआ साश्चर्य लेटा हुआ है ! अनन्त आकाश की परिसीमा तक कुमार की दृष्टि पहुँची। वृद्ध ने कुमार के कंधे पर मीठी थपकी दी। कुमार ने नयन खोलकर वृद्ध के मुख की ओर देखा। न जाने, किसी अज्ञात स्नेह-पाश से वे दोनों बंध चुके थे। वृद्ध ने पूछा :

"बेटा, तुझे क्या चाहिए ? तूने इतना क्लेश सहकर मेरा पीछा क्यों किया ? "

कुमार ने जवाब दिया: "नटखट लड़के ने पत्थर मारा। यह देखकर मेरा दिल पिघल गया। सोचा, यदि रास्ते पर गिर जायेंगे, तो मदद करूँ।"

वृद्ध मुस्करा गये। कहा : "बस, अच्छा हुआ। क्या तुझे यहाँ से लौट जाना नहीं चाहिए ?" कुमार ने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ कहने में वह असमर्थ था। लेकिन उसने अपनी चेष्टा से यह आशय प्रकट किया कि आपके साथ रहना मुझे पसन्द है। तब वृद्ध ने कहा :

"तू अब अपने घर चल। जब कभी मुझे देखने का तुझे अत्यधिक मोह लगेगा है, तब मैं तेरे पास आ जाऊँगा।" इतना कहकर वृद्ध ने अपने बायें हाथ से कुमार की जीभ खींचकर उसपर दाहिने हाथ से कुछ लिखा। कुमार को मानों,

सब कुछ मिल गया। वनमार्ग पार कर सड़क तक वृद्ध ने कुमार का अनुगमन किया और उसे लौटा भेजा। कुमार ने दो–चार कदम चलकर पीछे मुड़कर देखा, तो वृद्ध वहाँ नहीं था। अद्भुत और आनन्द के साथ युवक लौट चला।

इस घटना के बाद युवक से परिचित कुछ जानकार लोग यह कहने लगे थे :

"कुंञन में कुछ परिवर्तन दिखाई देते हैं। उसकी बुद्धि असाधारण जैसी लगती है। उसमें एक बार सुन लेने से उसे समझने की क्षमता होती है। लगता, है कि कुंञन को किसी का प्रसाद मिल गया हो।"

अगले अमावासी के दिन कुंञन त्रिवेंद्रम वाली 'करमना' नामक नदी में नहा रहा था। उन दिनों घोर वर्षा चल रही थी और आकाश मेघाच्छन्न रह था। नदी उमड़–घुमड़ कर बह रही थी। मटमैला पानी दोनों किनारों पर चढ़ता हुआ जाता था। पानी में उतरकर कुमार स्नान करने जा रहा था, तब उस पार से किसी ने सुमधुर पुकारा–"बेटा!".

वही वृद्ध था। बुला रहा था अपनी ओर। वस्तुतः कुमार केलिए उस समय वह नदी अत्यन्त विशाल समुद्र जैसी थी। फिर भी हृदय की अदम्य प्रेरणा से कुमार तैरकर उस पार पहुँच गया। प्रवाह के धक्के को परवाह न कर कुमार तट पर लगा, तो वृद्ध ने हाथ को पकड़ लिया। दोनो पिता–पुत्र के से मधुर मिलन में आमग्न हो गये। फिर दोनों वहाँ से चले गये। उस नदी को पार कर वस्तुतः कुमार ने भव सागर को ही पार कर लिया!

इसी घटना के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित होते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इसी सन्यासी ने कुंञन को बाला और सुब्रह्मण्य का मंत्र पढ़ाया था। पीछे चलकर इसी मंत्र का उपदेश विद्याधिराज महर्षी ने कई शिष्यों को दिया है और श्री नारायण गुरु को भी यही मन्त्रोपदेश दिया।

रामन पिल्लै आशान के नेतृत्व में 'ज्ञानप्रजागरम' संज्ञक एक अध्यात्म सभा चल रही थी। वहाँ नियमित रूप से सत्संग चलता था। धार्मिक प्रभाषण चलते थे। और चर्चायें चलती थीं। इस सत्संग के सिलसिले में एक बार चट्टम्पी जी को संयोगवश एक प्रसिद्ध व्यक्ति का संपर्क प्राप्त हुआ। उनका नाम अय्यावू था। वे कार्तिकेय के अनन्य भक्त और एक हठयोगी थे। स्वयं चट्टम्पी जी भी कार्तिकेय के भक्त थे। बस, इन दोनों के बीच में परस्पर मैत्री हो गयी। चट्टम्पी जी

ने योगी से तमिल के कुछ प्रसिद्ध आध्यात्मिक गीत पढ़ लिये। धीरे-धीरे उन्होंने योगी से हठयोग साधना का भी अभ्यास कर लिया। बाद में श्री चट्टम्पी जी जब दार्शनिक हो चुके तब उनकी जिज्ञासा का उचित समाधान कर देने में योगी अय्यावू असमर्थ साबित हुए! वे इस दिशा में उतने प्रवीण तो नहीं थे।

अपनी शंकाओं का निवारण करने के लिए श्री चट्टम्पी जी ने श्री स्वामीनाथ देशिकर नामक तमिल विद्वान से संपर्क स्थापित किया।

स्वामीनाथ देशिकर तिरुवनन्तपुरम के राजकीय विद्यालय के भाष। ५।७त और तमिल के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों के अच्छे विद्वान थे। श्री चट्टम्पी जी ने इस विद्वान से षड़ दर्शनों का मनोयोग से अध्ययन कर लिया। परिणामस्वरूप श्री चट्टम्पी जी को ज्ञानयोग संबंधी गहरा ज्ञान करगत हुआ।

श्री चट्टम्पी जी की अवस्था पच्चीस वर्ष की हो गयी। उन दिनों में एक प्रकाण्ड़ विद्वान से उनका परिचय हो गया! तिरुवनन्तपुरम पद्मानाभ स्वामी मंदिर के तत्वावधान में प्रतिवर्ष नवरात्रि महोत्सव चलता था। उसमें भाग लेने के लिए एक बार महा पंडित सुब्बा-जटा पाठी जी आये। श्री चट्टम्पी जी ने इनसे परिचय पा लिया और इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। गुरु अपने प्रिय शिष्य से अतीव प्रसन्न थे। गुरु सर्वशास्त्र-पारंगत एवं ब्रह्मनिष्ठ थे। सुब्बा जटा पाठी जी श्री चट्टम्पी जी को अपने साथ ले गये। वे तमिलनाडु के कल्लट-कुरुशी नामक गाँव के रहनेवाले थे। वे महर्षि तुल्य थे और श्री चट्टम्पी जी को पुत्रवत् मानते थे। उनके साथ रहते हुए शिष्य ने तीन-चार वर्षों में संस्कृत तथा तमिल के सारे शास्त्र-ग्रथों का अध्ययन कर लिया और शास्त्र-पारंगत हो गये। पंडित जटा पाठी जी का भवन हमेशा शास्त्र-चर्चा से मुखरित तो था। कई स्थानों से वेदज्ञ एवं शास्त्रज्ञ विद्वान वहाँ आया करते थे और पंडित जी उनका शंका-निर्माजन करते थे। उस सभा के एक सदस्य के रूप में श्री चट्टम्पी जी रहते थे और शास्त्र-चर्चाओं मे लीन रहते थे। पं० जटापाठी के भवन के समीप उन दिनों एक योगीश्वर योगलीन रहते थे। उस योगीश्वर से चट्टम्पी जी ने तमिल रीति की योग-विद्या प्राप्त कर ली। इसके अलावा, वहाँ रहते हुए उन्होंने तत्कालीन संगीतोपकरणों को बजाने में सफल अभ्यास कर लिया। वस्तुतः ये सारी विद्यायें उन्हें पहले ही प्राप्त थीं। अब उनपर योग्य प्रशिक्षण करके पूर्ण विद्वत्ता प्राप्त की। आखिर, जब वहाँ से चट्टम्पी जी बाहर आये थे, तब वे एक श्रेष्ठ वेदज्ञ तथा तत्व वेत्ता के रूप में सर्वज्ञ हो चुके थे।

इसके बाद, स्वामी चट्टम्पी जी ने सारे दक्खिन का भ्रमण किया । अनेक वैदज्ञों एवं सिद्धपुरुषों का प्रसाद प्राप्त कर लिया । एक मुसलमान संत से इस्लाम धर्म का भी अध्ययन किया । और मुसलमान संत ने स्वामी जी से अपनी शंकाओं का निवारण कर लिया ।

दक्षिण की यात्रा में स्वामी जी आत्मानन्द स्वामी नामक एक बडे योगी के संपर्क में रहे थे। स्वामी आत्मानन्द जी ने चट्टम्पी जी को अगस्त्य-शैली की योग-चर्चाओं एवं मर्मविद्या से अभ्यस्त करा दिया । स्वामी आत्मानन्द जी ने अनेक वर्षों तक कन्याकुमारी के निकटवाले मरुत्वपर्वत पर रहते हुए तपस्या की थी । इनके सत्संग से स्वामी जी ने योगानुष्ठान के अनेक गुप्त-रहस्यों को समझ लिया । ताई अम्माळ् और अमाम स्वामी जैसे योगियों से विशेष रीति की योग-विद्या हासिल की ।

बाद में श्री कुंजन पिल्लै चट्टम्पी स्वामी योग-चर्या में लीन रहते थे और दर्शन-ज्ञान से सदा दीप्त रहे थे । फिर भी, उन्हें पूर्ण रूप से मानसिक शांति नहीं मिलती थी । उन्हें लगता था कि किसी वस्तु की कमी उन्हें खटक रही है । यह अनुभूति उन्हें हमेशा अप्रसन्न करती थी । पर, वे अपनी अशांति का कारण नहीं समझ सकते थे । इस प्रकार, वे एक प्रकार की मानसिक पीड़ा से हमेशा कुढ़ते रहे थे और निरन्तर घूमते रहे थे । अंत में अकस्मात एक अवधूत से उनका साक्षात्कार हुआ । कन्याकुमारी जिला में वटिवीश्वरम नामक गाँव में श्री विद्याधिराज को एक परम सात्विक एवं सन्यासी वेष में उस अवधूत के दर्शन हुए । उस अपूर्ण दर्शन की कथा निम्न प्रकार है: यात्रा के बीच योगी चट्टम्पी ने देखा कि एक घर में एक दावत चल रही है । कुछ बालक भोजन करके बाहर आ रहे थे । उन्होंने बाहर देखा कि जूठे पत्तों पर चार-पाँच कुत्ते और उनके बीच एक वृद्ध आदमी जूठन खा रहे हैं । बीच-बीच में वृद्ध आदमी पत्तों से अन्न निकालकर कुत्तों को देता है और स्वयं खाता है । इस विचित्र दृश्य को देखकर नटखट बालक बूढे और कुत्तों पर पत्थर मारने लगे । पर वृद्ध ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की । और कुत्ते बिना झगडा किये बूढे का अनुसरण करते हैं । इस दृश्य को योगी चट्टम्पी बड़े कौतूहल से देख रहे थे और उन्होंने पहचान लिया कि भीखमंगे के रूप में कोई अवधूत हैं । वह वृद्ध अविवेकी जन्तुओं और विवेकी माने जानेवाले मनुष्यों को आपस में संतुलित रख सकते हैं । योगी चट्टम्पी वृद्ध को ध्यान से देखते रहे और ईस बीच बूढ़े ने भी अनुभव कर लिया कि मुझपर किसी का दृष्टि-पात हो रहा है । तुरंत वहाँ से उठकर शीघ्र चलने लगे । योगी चट्टम्पी को ऐसा लगा कि मैं जिस

की खोज करता था वही अवधूत मेरे सामने है। जिस ओर अवधूत उठकर चले उस ओर वे भी शीघ्र चलने लगे। अवधूत एक जंगल में अप्रत्यक्ष हो गये। योगी चट्टम्पी इधर–उधर दौड़ने लगे। आखिर जब अवधूत ने उन्हें दर्शन दिये तब वे अतीव प्रसन्न भी थे, मानों वे इनकी खोज में थे। इधर खड़े थे योगी चट्टम्पी अध्यात्म-ज्ञान से दीपित होकर। जिस प्रकार स्पर्श मात्र से योगी रामकृष्ण परम हंस ने विवेकानन्द को प्रज्ञावान बना दिया उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान की प्यास से विवश युवक चट्टम्पी को अवधूत ने स्पर्श कर लिया। कर-स्पर्श से युवक को ऐसा लगा कि सामने एक ज्योतिर्मय स्वरूप खड़े हैं। उन्होंने योगी चट्टम्पी को प्रणव मंत्र का उपदेश दिया। तत्काल योगी चट्टम्पी की जड़ता उनसे हट गयी। उनमें चिद्प्रकाश का स्फुरण हुआ। अवधूतअप्रत्यक्ष भी हो गये।[1]

प्रस्तुत घटना के साथ ही योगी विद्याधिराज की साधना फल-सिद्ध हो गयी। वे भी अवधूत बन गये। वे ब्रह्मसाक्षत्कार से चिदानन्दघन में निमग्न हुए। इसके बाद वे फिर अपने जन्मदेश की ओर निकले। उन दिनों अवधूत विद्याधिराज की अवस्था २७ वर्ष की थी। श्रीमद् शंकराचार्य की तरह स्वामी विद्याधिराज भी अपनी वृद्ध माता के दर्शनार्थ तिरुवनन्तपुरम वाले घर पहुंचे। उस समय उनकी माता जी मृत्युशय्या में पड़ी हुई थीं। अपनी माता की सेवा–शुश्रूषा पुत्र ने मनोयोग से की। वह पुण्यवती स्वर्ग सिधार गयीं। पुत्र ने हमेशा के लिए गृहत्याग कर दिया।

योगविद् चट्टम्पी नैष्ठिक ब्रह्मचर्या से तेजोदीप्त तथा सिद्ध पुरुष महर्षि बन गये। युवत्व के उन्माद और मनोविकार उन्हें छू नहीं गया। धन-प्राप्ति के प्रति विरक्त थे। उनके मन, कर्म, और वचन उदात्त मानव संस्कृति के आलोक में मग्न थे। योग-सिद्ध चट्टम्पी की कोई निश्चित जीवन-चर्या भी नहीं रही। कहाँ

---

१ सन् १९०८ में प्रकाशित "बालाह्व स्वामी चरणाभरण" संज्ञक संस्कृत में रचित जीवनी से उद्धृत है:

कालेऽथ तस्मिन् द्रमिडेष्वमुष्मिन्
स्थितिं दधत्यागमवारिराशौ
कश्चित् परानन्द रसोऽस्य 'काक-
तालीय' नित्याक्षि पथं प्रपेदे ॥
मुनेरदृष्ट श्रुतपूर्व नाम्न-
स्तस्यान्महावाक्यमयोदेशः
लब्धोऽन्तराविश्य हृदो बिभेद-
ग्रान्थि स एषोऽस्य महशायस्य ॥

जाना है, क्या करना है, कहाँ ठहरना है, कहाँ निद्रा लेना है, इत्यादि की कोई निश्चित चर्या नहीं थी। समाज जावन की सीमाएं भी उन्हें नियंत्रित नहीं करती थीं। उनके लिए कोई अपना बन्धु नहीं। किसी सामाजिक कार्य में उनका कर्तृत्व नहीं। पर, लोग उन्हें असाधारण, पूजनीय, श्रेष्ठ विद्वान मानते थे। उन्हें देखकर उनका आदर किये बिना कोई रह नहीं सकता था। विद्वानों केलिए वे उत्कृष्ट पुरुष थे, दीनों के बन्धु थे। हाँ, स्वामी जी के लिए कोई कर्तृत्व शेष नहीं रह गया था, जैसे कहा है:

यस्त्वात्मरतिरेव स्या-
दात्मतृप्तश्च मानव:
आत्मन्ये च सन्तुष्ट-
स्तस्यं कार्यं न विद्यते।

पर, संसार में उनकी उपस्थिति का लक्षण मालूम होता है — कबिरा संगति साधु का।

यद्यपि समाज-जीवन से योगी तटस्थ रहते हों, फिर भी समाज को उन के कारण कल्याण प्राप्त होता है। योगी तो मंगल-मूर्ति तो हैं। स्वामी जी ने अपना घर छोड़ दिया था। त्रिवेंद्रम आये, तो उन्हें रहना तो था कहीं। इसकेलिए संयोगवश एक जगह प्रप्त हुई। 'चट्टम्पी' के परिवार में केशव पिल्लै नामक एक भाई था। उसकी पत्नी अपस्मार रोग से पीड़ित थी। अनेक वर्षों की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं मिल रहा था। पत्नी के रोग से निराश केशव पिल्लै ने जब सुना कि चट्टम्पी सिद्ध-पुरुष बनकर शहर में आये हुए हैं, तब उनको खोज निकाला। अनुनय-विनय से स्वामी जी को अपने पत्नी-गृह कल्लुवीट में बुला लाया। स्वामी जी ने देखा कि केशव पिल्लै की पत्नी अपस्मार रोग से विकृत–बीभत्स रूप में रहती है। स्वयं योग–चर्या में रहकर स्वामी जी तो निष्काम जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने कभी नहीं सोचा था कि योग-सिद्धि का कहीं प्रयोग करना पड़ेगा। ऐसा करना वे कभी पसन्द नहीं करते थे। स्वयं सन्यस्त जीवन धारण करके मुक्त पुरुष अपने लिए क्या कामना करें? लेकिन, यहाँ एक स्त्री का विकट प्रश्न सामने आया है। मनुष्य को जीवन का सहज आनन्द प्राप्त होना ही चाहिए। मानवीय बनने में से जो हट जाता है उसका रास्ता सुलझा दिया जाना है। संतों-सिद्धों का कर्तव्य है कि पीड़ित-आश्रित मनुष्य को सही रास्ता दिखा दें। यहाँ एक स्त्री पर दुर्देवता का आक्रोश है। स्त्री अपने सहज जीवन से च्युत हो गयी है। उसको उससे मोचित करने मे यद्किंचित् कार्य करने से योग-सिद्धि का दुरुपयोग नहीं हो सकता। सहज

रूप से मानवीय स्तर पर कुछ करना ही पड़ना है । हाँ, सिद्ध-पुरुष स्वामी जी ने स्वयं अपने सान्निध्य से उस स्थान को पवित्र कर दिया। अब, उन्होंने उस स्त्री के लिये थोड़ा सा प्रयत्न किया । आश्चर्य तो था कि स्त्री का अपस्मार रोग छूट गया !! वर्षों की उग्र प्रेत-बाधा से विकम्पित वह सात्विक नारी सचैतन्य हो गयी! रोग-मुक्त नारी ने स्वामी जी की चरण वन्दना की । उसे ऐसा लगा कि मैं अब दूसरे जन्म में प्रवेश कर रही हूँ । उसको स्वामी जी प्रत्यक्ष हुए ईश्वर के रूप में दिखाई दिये । इस घटना के साथ वह घर स्वामी जी का निवास-स्थान बन गया । और त्रिवेंद्रम में स्वामी जी विश्रुत हुए । असंख्य आराधक वहाँ आने लगे । संगीत बाजे और अनेक प्रकार के वेदांत चर्चाओं से वातावरण मुखरित होने लगा । स्वामी जी लोगों की भलाई में ध्यान देने लगे ! अनेकों को दुर्देवताओं के उपद्रवों से मुक्त किया । अनेकों को अज्ञानान्धकार से प्रकाश में लाये । धीरे-धीरे स्वामी जी की कीर्ति चारों तरफ फैल गयी । वे कल्लुवीट में रहते हुए आस-पास की जगहों में घूमते रहे । लेकिन, किसी को भी पता नहीं लगता था कि वे कहाँ जाते हैं और क्या करते हैं । उनकी यात्रा का समय सूरज के अस्त होने के पहले था । और लौट आते थे करीब प्रभात के साथ । न किसी भूत-प्रेतादि से डर था, न सांप जैसे दुष्ट जन्तुओं से । हाँ, घबरा जाते थे एक वस्तु से, वह थी धूप ।

अपनी यात्रा में वे यह खोजते रहे थे कि कहाँ-कहाँ कौन-कौन प्राचीन श्रेष्ठ ग्रंथ हैं । केरल मे मूल्यवान् ग्रंथों की कमी कभी नहीं होती, यही उनका दृढ़ विश्वास था । स्वामी जी ने बहुमूल्य ग्रंथों का अध्ययन जो किया था सब तमिल ग्रंथों का था । इसलिए उनका मन इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ लेने में जिज्ञासु रहा था कि केरल में कहाँ उत्तम ग्रंथ छिपे रहते हैं । यात्रा का मुख्य लक्ष्य यही तो था ।

राजधानी में लोगों में एक यही मुख्य विषय था कि स्वामी चट्टम्पी मांत्रिक हैं, सिद्ध हैं, वैद्य हैं आदि आदि । स्वामी को सांप ने काटा और मरा सांप ! जानवर स्वामी के आज्ञावर्ती हैं ! ये अद्भुत कथाएं शहर भर फैल गयी । इन्हीं दिनों में स्वामी जी को एक ब्राह्मण परिवार में अनेक तंत्र ग्रंथ प्राप्त हुए । कूपक्करा नामक ब्राह्मण परिवार में विशिष्ट ग्रंथ रखे हुए थे । उस ग्रंथालय के संरक्षक ने स्वामी जी को काफी सुविधा दे दी और स्वामी जी ने वहाँ के सारे ग्रंथों को पढ़ लिया । जहाँ-जहाँ ऐसे सन्दर्भ देखे जिन्हें लिख लेना जरूरी हो, उन्होने लिख लिया । इन ग्रंथों में ऐसे तंत्रिक मंत्र भरे पड़े थे, जो अनुष्ठान, क्षेत्रपूजा, बिंब प्रतिष्ठा, भूतबलि आदि देवालय पूजा-विधियों का अपूर्व रहस्य वर्णित था । स्वामी

जी ने इन तंत्र–विधियों का यथाविधि अध्ययन किया। बाद में, इन मंत्र-पाठों का लाभ स्वामी जी को प्राप्त हुआ था।

सिद्ध–पुरुष एवं योगी बनने के बाद भी महर्षी विद्याधिराज को विशिष्ट शास्त्र–ग्रंथों के प्रति बड़ा मोह सा था। श्री केशव पिल्लै स्वामीजी की इस इच्छा की यथासंभव पूर्ति करते थे। उन्होंने बंबई, कलकत्ता, काशी आदि देशों से अनेक विशिष्ट ग्रंथ मंगाकर दिये। केशव पिल्लै और स्वामी में अगाध ममत्व सा हो चुका था। इसलिए, जब केशव पिल्लै का निवासस्थान त्रिवेंद्रम से थोड़ी दूर वामनपुरम में हो गया तब भी स्वामी जी उनके साथ रहने लगे। केशवपिल्लै ओवरसियर का काम करते थे और स्वामी जी की हर मांग की पूर्ति कर देते थे। वामनपुरम आने के बाद स्वामी जी की यात्रा पूर्वाधिक बढ़ गयी। अनेक विद्वानों के भवनों में स्वामी जी अतिथि बने। वहाँ–वहाँ उन्हें नये–नये विषयों के नवीन ग्रंथ उपलब्ध होते गये। ऐतिह्य, भूगोल शास्त्र खगोल शास्त्र आदि विषयों के ग्रंथ उन्हें मिले। लोकगीतों का साहित्य भी उन्हें पसन्द का विषय था। इसलिए अनेक लोकगीतों का भी उन्होंने संग्रह किया। इस यात्रा में त्रिवेन्द्रम के समीपस्थ किलिमानूर, आट्टिंगल, वेञ्ञारंमूड़, नेटुमंगाड़ आदि देशों में बार-बार जाते थे। उनके साथ कोई न कोई आराधक भी अनुगमन करते थे। किलिमानूर प्रदेश में स्वामी जी को मंत्र, ज्योतिष और वैद्यशास्त्र में पूर्वाधिक ज्ञान प्राप्त हुआ। अनेक वैद्यों, ज्योतिषियों, मंत्रवादियों से उन्हें चर्चा करने और प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा मिली। मरुत्वपर्वत में रहते हुए उन्होंने कल्प–सेवन शुरू किया था। पर, उसकी पूर्ति कर सके वामन पुरम मे। ऐसा कोई पत्ता नहीं था जिसकी रुचि स्वामी जी ने चखकर नहीं देखी थी। प्रथमत: श्री नारायण गुरु ने स्वामी जी का सत्संग इसी वामन पुरम में किया था। यह सन् १८८३ में था इसके पूर्व स्वामी जी ने नारायण गुरु को अणियूर देवालय में देखा था और प्रथम दर्शन में ही स्वामी जी को लगा कि यह युवक आत्मविद्या ग्रहण करने में सक्षम है। इसलिए स्वामी जी ने उन्हें वामनपुरम मे बुलाया।

वामनपुरम पहुँचने के बाद श्री नारायण गुरु स्वामी जी के संतत सहचारी रहे। स्वामी जी की वेदांतपरक विद्वत्ता एवं अपार ज्ञान देखकर श्री नारायण गुरु अत्यधिक आकृष्ट हुए। वहाँ स्वामी जी ने वह 'बाला सुब्रह्मण्य" मंत्रोपदेश उन्हें दिया जिसके जाप से स्वयं साधनहीन कुंजन एक बडे सिद्ध बन गये थे। नारायण गुरु अब तक सच्चे साधक हो चुके थे, इसलिए उन्हें, योग–पाठों का अभ्यास करने में देर नहीं लगी। स्वामी जी नारायण गुरु के साथ तैक्काट्ट अय्यावू के दर्शन

किया करते थे। उन दिनों श्री अय्यावू रसायन-क्रिया से लोहे को सोना बनाने की चेष्टा में दत्तचित्त रहे थे। कांचन-मुक्ति-प्राप्त स्वामी जी और नारायण गुरु इस नवीन उद्यम में लगे हुए श्री अय्यावू से हमेशा के लिए रुखसत हुए।

स्वामी जी अपने शिष्य नारायण गुरु के साथ दक्खिन की ओर यात्रा पर निकले। आबाद नगरों एवं जनपदों में वे रहना पसन्द नहीं करते थे। मरुत्व पर्वत जैसे एकांत तथा जनरहित वनों में रहने लगे। वे प्रकृति के रहस्यमय दृश्यों में भावविभोर रहे थे। अनंत आकाश की नीलिमा में और उन्मुक्त वातावरण के मन्द पवन में अनादि शक्ति का आभास पा लेते थे। वे खूंख्वार जानवरों के बीच भी विचरते थे। आत्मा का साक्षात्कार प्रत्यक्ष रूप में वे सर्वत्र अनुभव करते थे। तपोपूत जीवन का मधुर आलोक उनके जीवन को चरितार्थ कर देता था। अवधूतों एवं सिद्ध-पुरुषों के निरंतर संपर्क में उनके विचार उदात्त तथा लोक-कल्याणकारी हुए। योग साधना की अमल शक्ति का अनुभव उन्हें सदैव शांत और आनंदमग्न कर देता था। इसप्रकार वे सारे दक्षिण प्रदेशों में चलते रहे। इस तीर्थाटन से उन दोनों मुक्त पुरुषों को वह शक्ति प्राप्त हुई, जिससे मनुष्य-मनुष्य के बीच स्नेह बढ़ता जाता है और महान् आदर्शों का अस्तित्व वाँछणीय होता है।

दक्षिण की यात्रा से लौटकर दोनों विभूतियाँ नेय्याट्टिन्करा पहुंचे। गरमी के दिन थे। नेय्यार नदी क्षीणित होकर बहती थी। नदीतट जलहीन रहे थे, जहाँ से वे ऊपर को दिशा की ओर चले और अरुविप्पुरम नामक प्रशांत तथा सुन्दर स्थान में पहुंच गये। वह इतना एकांत और तपोमय स्थान मालूम हुआ कि दोनों वहाँ कुछ दिनों तक योगलीन रहे। नारायण गुरु को वह जगह अपने भावी कार्य-व्यापार के लिए उपयुक्त लगी। (आगे चलकर गुरु ने वहाँ एक शिवदेवालय की स्थापना की। आज भी श्री नारायण गुरु के नाम पर उस जगह का अपना महत्व है।) स्वामी जी बीच-बीच में आसपास के प्रदेशों की यात्रा करते रहे।

श्री नारायण गुरु के दो सहपाठी थे पेरुन्नेल्ली कृष्णन वैद्यन और वेळुत्तेरी केशवन वैद्यन। ये दोनों युवक स्वामी जी को भी अतीव प्रिय थे। दोनों ने स्वामी जी का शिष्यत्व स्वीकार किया। दोनों के घरों में स्वामी जी रहते थे। कभी-कभी नारायण गुरु भी आगत हो जाते। तब वहाँ कविता पारायण, वेदांत भाषण, कायिक अभ्यास आदि कार्यक्रम चलते। कृष्णन वैद्यन स्वामी जी से संस्कृत, वेदांत, कविता-रचना आदि का अभ्यास करते थे और केशवन वैद्य ने उनसे पहल-वानी का अभ्यास किया था। स्वामी जी कहा करते थे कि "कृष्णन को कवि

बनाने के लिए ही मैंने कवि का वेष रचा। कृष्णन और केशवन दोनों मेरे पंख हैं।" माता का सा ममत्व दोनों को स्वामी जी ने प्रदान किया था। वेळुत्तेरी ने अपने गुरु की इसप्रकार आराधना की थी:

अद्वैतानन्द पीयूष–
लहरी मग्नमानसं
भावये भावनादूरं
श्रीगुरुं शिशुनामकं

वेळुत्तेरी और पेरुन्नेल्लो दोनों से स्वामी जी का ममत्व सामाजिक दृष्टि से गहरा अर्थ रखता था। निम्न वर्ण के समझे–जानेवाले लोगों के साथ स्वामी जी ने संपर्क स्थापित करके केरल में सामाजिक सांस्कृतिक क्रांति की नींव डाली थी। उपर्युक्त दोनों ईषवा युवकों ने स्वामी जी के मुँह से जो शिक्षा प्राप्त की थी उसका प्रभाव बहुत गहाराई तक पडा था। दोनों एक समय केरल के प्रकांड पण्डित बने रहे थे। कई तमिल पण्डितों को उन्होंने तर्क में पराजित किया था। उन दिनों वेदांत और दर्शन का अभ्यास निम्न वर्ण के लोगों के लिए निषिद्ध था। परन्तु योगी चट्टम्पी जी ने इस रूढ़िगत परंपरा का भंजन किया। केरल में एक नवीन सांस्कृतिक प्रभात का आलोक फैलाने के निमित्त उन्होंने अपने अवर्ण शिष्यों को वस्तुत: प्रोत्साहित किया। यह नीरव क्रांति अपने लक्ष्य में उग्र साबित हुई। मन्द पवन से चलकर प्रचण्ड आंधी का रूप धारण किया। जाति के नाम पर एक देश का पौरुष निस्तेज होता जा रहा था। इस पतनोन्मुख प्रयाण से देश की अजेय शक्ति को बचाने का उग्र एवं धीर प्रयत्न था महर्षी चट्टम्पी का। वस्तुत: स्वामी जी ने केरलीय जन जीवन में नवोत्थान की नींव डाल दी। स्वयं स्वामीजी ने अपने को वेद–पारंगत बना लिया। इसके बाद सारे शास्त्रों में अवगाहन किया। भारतीय ज्ञानियों एवं ऋषियों के समान योग–सिद्धांत में प्रवीणता प्राप्त कर ली। परन्तु अपनी, विद्वत्ता एवं सिद्धियों को अपने में ही सीमित नहीं रखा। उसे निम्न एवं पतित माने–जाने वाले लोगों में प्रसारित कर दिया। सुप्त और घायल सिंह को जगाकर उसे पौरुष की चोट लगा दी। उसे जगाकर एक परंपरा के दीर्घ और अलस प्रयाण को दिशांतरित कर दिया। देश को शक्तिसंपन्न–और गर्वोन्नत कर देने में यह महान् यत्न सफल–सिद्ध हुआ। ब्राह्मणेतर निम्न वर्ण के लोगों को वेदज्ञान और अध्यात्मपरक उपलब्धि अप्राप्य थी। स्वामी जी की उदार और सत्यनिष्ठ कर्मण्यता से इस घोर अन्याय के विरुद्ध सोचने और प्रयत्न करने की आधारशिला पड़ गयी। वर्णाश्रम की गलत धारणाओं और आशय–प्रचरणों का इसप्रकार अंत हो गया।

उपर्युक्त पवित्र यज्ञ में महर्षि विद्याधिराज पूर्वाधिक प्रयत्न-शील होते गये। अक्सर देखा जाता है कि समाज–बद्ध आचरणों के विरुद्ध आचरण करनेवाले लोग घोर संघर्ष में पड़ जाते हैं। और समाजबद्ध लोग ऐसे अतिक्रमण में लगे हुए क्रांतिकारियों का निरादर करते हैं। लेकिन, स्वामी जी के विरुद्ध बोलनेवाले बहुत कम लोग ही हुए। क्योंकि स्वामी जी जैसे प्रकाण्ड पण्डित, ब्रह्मज्ञ तथा वेदज्ञ पुरुष उस समय दूसरा कोई नहीं था। यही नहीं, शास्त्रों और कलाओं में ऐसा पारंगत व्यक्ति देश भर में अन्य कोई नहीं था। स्वामी जी अपने अनुभव का प्रत्यक्ष प्रमाणों से समर्थन भी करने लगे थे। वे यह साबित करना चाहते थे कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्मम्" का आशय केवल बोध–गम्य ही नहीं, बल्कि उसे प्रत्यक्ष में भी लाया जा सकता है। सर्व प्राणियों में विराजमान चैतन्य की यथार्थ पहचान संभव है। इस तत्व को प्रामाणिक करने केलिए स्वामी विद्याधिराज ने श्वानों को पहले अपना उपकरण बनाया। त्रिवेन्द्रम के एक भवन में स्वामी जी के निर्देश से पचास श्वानों को दावत दी गयी। इस दावत में श्वानों का व्यवहार अत्यधिक सभ्य मनुष्यों का जैसा था। स्वामीजी ने उन्हें जैसी आज्ञा दी वैसा ही व्यवहार! ऐसा घटना इन्द्रजाल से ही सम्भव है। पर, स्वामीजी सिद्ध योगी बन चुके थे। ऐसे योगी को जीवन के एकत्व को सिद्ध करने में किसी भी प्रकार की ऐंद्रजालिक क्रिया की ज़रूरत नहीं। जो भी हो, प्रस्तुत घटना के बाद स्वामी जी ने विरुद्ध प्रचारकों को भी निरुत्तर कर दिया। फिर, अनेक बार ऐसे दृश्य उनके द्वारा सम्पन्न हुए, जिससे उनकी भव्य सिद्धि पर शंका करने की गुंजाइश न रह गयी। [उनके सिद्धि–कर्म का प्रतिपादन अलग अध्याय में किया गया है।] स्वामी जी की स्नेह भावना परमोच्च दशा में थी। इस कारण से भी कलुषित वैर–भावना से संघर्षरत जीवन को शान्त, शुद्ध और निर्वैर बनाया जा सकता है। पर, यह अत्यन्त महान कार्य है ही।

श्री केशवपिल्लै का स्वामी जी के प्रति भक्ति–भाव अति पशंसनीय था। जहाँ-जहाँ वे स्थानांतरित हुए थे वहाँ–वहाँ स्वामी जी भी अपने भ्रमण को केन्द्र मानकर उन के साथ–साथ गये। वामनपुरम से ओवरसियर केशवपिल्लै का तबदीला हुआ मूवाट्टुपुषा में। वहाँ उनके साथ रहते हुए स्वामी जी ने ट्रावंकोर के उत्तरी देशों का येथेष्ट भ्रमण किया। उत्तर में, एरणाकुलम से लेकर एट्टुमानूर तक और एट्टमानूर से पूर्व की तरफ मीनच्चल तक की जगहों में भ्रमण करके उन्होंने अपने अध्यात्म जीवन के असंख्य भक्तजनों को भागी–दार बना लिया। एट्टुमानूर देवालय के निकट एक भजनमठ की स्थापना हुई। वहाँ रोज़ दिन–रात वेदांतपरक चर्चायें, भजन एवं कलाभिनय होने लगे।

बहुत शिष्य एकत्रित हो जाते। भक्त-जनों की भीड़ लग जाती। बहुत दूर-दूर से भक्त आते। नारायण गुरु भी बीच-बीच में उपस्थित होते थे। जब-जब गुरु का आगमन होता तब-तब दोनों योगी यात्रा पर निकलते। स्वामी जी की ओर से नारायण गुरु ने देवप्रतिष्ठा करने की विधि पढ़ ली थी। यात्रा के सन्दर्भों में नारायण गुरु उत्तम स्थानों पर दृष्टि डाल रखते थे। बाद में उन स्थानों में गुरु ने देव प्रतिष्ठायें की हैं। लेकिन, महर्षि विद्याधिराज ने कहीं भी कोई प्रतिष्ठा-कर्म नहीं किया। ऐसा करना वे बंधन मानते थे। एक बार स्वामी जी ने सुना कि नारायण गुरु ने एक देवालय में शिव प्रतिष्ठा की है। तब "इस प्रकार करना बंधन है," इस आशय का उत्तर स्वामी जी महराज ने एक वाक्य में लिख भेजा।

एट्टुमानूर में रहते समय स्वामी जी महराज ने 'ईसाई धर्म निरूपण' नामक रचना तैयार की थी। यही आप का प्रथम रचित ग्रंथ है। इसे परिस्थितिवश स्वामी जी को रचना पड़ा था। उन दिनों देश भर ईसाई धर्म-प्रचरण का अरुचिकर एवं अवांछनीय अतिक्रमण चल रहा था। धन और स्नेह के बहाने ईसाई धर्म-प्रचारक निरीह हिन्दु धर्म के लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित कर रहे थे। चौराहों में उन ईसाई मिशनरियों की हमेशा भीड़ रहती और हिन्दु धर्म पर झूठे आरोपों से वे उसकी निन्दा किया करते थे। कभी-कभी हिन्दू धार्मिक वक्ताओं को ईसाई धर्म-प्रचारकों से अवहेलना और अपमान सहना पड़ता था। इससे तंग आकर अनेक हिन्दू धर्म-पंडितों ने स्वामी जी महाराज से अपनी शिकायत पेश की। स्वयं स्वामी जी ईसाई पातरियों एवं प्रचारकों के अविहित धर्म-परिवर्तन कार्यों से परिचित थे। स्वामी जी ने सत्यवेद पुस्तक का अनेक बार इस अवसर पर अध्ययन किया और इसाई धर्म का सार बता दिया और बाद में उसी धर्म-ग्रंथ से अयुक्तिक सन्दर्भों का उल्लेख करके उसका खण्डन प्रस्तुत किया। स्वामी जी के निर्देशन के अनुसार हिन्दू पंडितों ने जहाँ-तहाँ ख्रिस्तीय प्रचारकों के सामने वेद पुस्तक का सयुक्तिक खण्डन करना शुरू किया। इसप्रकार, जिस ईसाई धर्म को स्वामी जी ने जनता के सामने प्रबोध देने लिए प्रस्तुत किया था उसी धर्म का खण्डन करना उन्हें आवश्यक जान पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वामी जी ने प्रस्तुत प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर ली। स्वयं सर्व-धर्म-समानता के लिए जो महापुरुष ईश्वरीय सन्देश देते रहे उन्हीं को ख्रिस्तीय धर्म के खण्डन करने में उद्युक्त होते देखकर लोग दंग रह गये। परिणाम यह हुआ कि ख्रिस्तीय धर्म-प्रचारकों का उत्साह थम गया और स्वामी जी के डर से वे अपने प्रचार के लिए अन्यत्र उचित स्थान ढूँढ़ लेने लगे। बाद में स्वामी जी की रचना का प्रकाशन हुआ तो उसकी सारी प्रतियों को ईसाई धर्म-प्रचारकों ने मोल लेकर उनको जला दिया। यदि इसप्रकार न

किया होता, तो केरल में आगे ख्रिस्तीय प्रचार-कार्य निर्मूल हो जाता और उन्हें यहाँ पनपने का अवसर ही न मिलता। श्रुति, युक्ति और अनुभव के बल पर ही स्वामी जी ने उस ईसाई वेद पुस्तक के अयुक्तिक अंशों का खण्डन किया था। इस संबन्ध में स्वामी जी ने अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है–"मैंने ईसाई धर्म के अनुसार ही उसका विश्लेषण किया है। उस धर्म का मत है कि हर वस्तु का अच्छी तरह निरीक्षण करना चाहिए। जो अच्छी और श्रेष्ठ लगती है उसे अपनाना चाहिए। मैंने भी इस मत का तो अनुसरण किया। जो वस्तु भीतर रहती है उसे देखने के लिए उसके ऊपरी तल को भेदकर भीतर की ओर जाना है। बीज तभी दृष्टिगत होगा जब फल फोड दिया जाता है। इसलिए मैंने उसका अनुसरण किया है। मैंने उस धर्म की विभेदना की। इस विभेदन–विश्लेषण से ईसाई धर्म के विश्वासियों को ही बडा लाभ हुआ। क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने धर्म की विशिष्ट-ताओं को भली-भांति समझ लेने में दुबारा अवसर पा लिया।" बहुत से ईसाई पंडितों ने खुले दिल से मान भी लिया कि श्री स्वामी जी के कारण हम अपने धर्म की विशिष्टताओं को ठीक-ठीक समझ सके हैं। रूस में महान् चिन्तक टॉलस्टाय ने और अमरिका में इंकरसाळ् ने ख्रिस्तीय वेद पुस्तक का दिल से विश्लेषण किया है। बडा विचित्र अनुभव है कि करीब स्वामी जी के जीवन काल में ही यह विश्लेषण हुआ है।

महर्षि विद्याधिराज की प्रशस्ति पूर्वाधिक व्याप्त होती है

उत्तर तिरुवितांकूर के करीब सारे प्रदेशों में स्वामी जी महराज भ्रमण करते रहे थे। अपने प्रिय भक्त ओवरसियर केशवपिल्लै के साथ स्वामी जी मूवाट्टुपुषा में अनेक वर्ष तक रहे और इसी अवधि में स्वामी जी सारे उत्तर का भ्रमण कर सके। इस समय उनकी महानता और सिद्धि की खबर चारों दिशाओं में व्याप्त होती गयी। इसके फलस्वरूप अनेक जगहों से असंख्य पंडित और जिज्ञासू लोग उनके दर्शनार्थ आये। वेदांती एवं ज्ञानी पुरुषों को स्वामी जी के दर्शन से और उनके संपर्क से विशेष लाभ हुआ। अनेक धनी एवं सज्जन गृहस्थों ने स्वामी जी को सहायता प्रदान करके कृतकार्य बनने की इच्छा प्रकट की। लेकिन, स्वामी जी स्वयं अपने लिए किसी से किसी भी प्रकार की सहायता लेना नहीं चाहते थे। वे सुखमय जीवन कभी व्यतीत करना नहीं चाहते थे। सन्यस्त तथा त्यक्त जीवन उन्हें पसन्द भी था। सुख-सुविधा से हमेशा पराङ्मुख थे। वे अपने जीवन की उच्च एवं उदात्त वृत्तियों के कारण सब लोगों के आदर के पात्र बन चुके थे। अपनी विद्वत्ता को प्रकट करने के लिए अथवा किसी प्रकार की लाभेच्छा से प्रेरित होकर

कोई कार्य नहीं करते थे । उनकी सिद्धियों का स्वभाव भी अकृत्रिम एवं स्वाभाविक था । उसका आधार अविकल प्रेम तथा सर्वात्म-भाव का तत्व था । इसप्रकार, पहुँचे हुए एक असाधारण पुरुष के दर्शन-मात्र से लोग चरितार्थ बन जाते थे । अतः उनके नाम से आकृष्ट होकर उनके निकट आनेवाले लोगों की संख्या दिन-ब-दिन वृद्धि पाती गयी ।

इन दर्शनार्थियों में ऐसे जिज्ञासू पुरुष भी आगत होते थे, जो सहज ही मुक्ति-मार्ग के पथिक थे । इनमें स्वामी जी महराज के दूसरे शिष्य भी थे । नीलकण्ठ तीर्थपाद नाम से प्रख्यात पंडित और योगी केरल के संतों में नामी हैं । तीर्थपाद योगी के बहुत पूर्व ही श्री नारायण गुरु श्री विद्याधिराज महर्षि के शिष्य बन चुके थे । (इस संबंध में पहले ही इस ग्रंथ में लिखा भी जा चुका है ।) स्वामी नीलकण्ठ तीर्थपाद का भी संक्षिप्त परिचय 'स्वामी जी के शिष्य' संज्ञक प्रकरण में दिया गया है, इसलिए इस सन्दर्भ में अधिक नहीं लिखा जाता । श्री नीलकण्ठ तीर्थपाद जैसे प्रकाण्ड पण्डित और नैष्ठिक ब्रह्मचारी को शिष्य रूप में पाकर स्वामी जी महराज प्रसन्न तो थे । इसके बाद भी वे समीपवर्ती प्रदेशों में भ्रमण करते रहे । आलुवे, एरणाकुलम आदि प्रदेशों में स्वामी जी के अनेक शिष्य हुए, जो उच्च शिक्षा-प्राप्त और उच्च पदाधिकारी रहे थे । दीवान सेक्रटरी रामय्यर, पुलिस सूपरिन्टेन्ट चन्तुलाल, वेदान्त पटु पद्मनाभाचारी आदि उन्हीं दिनों में स्वामी जी के आकर्षण में आ गये थे और उनके शिष्य बने थे । उपर्युक्त पुलिस अधिकारी के यहाँ रहते हुए स्वामी जी महराज को स्वामी विवेकानन्द से संपर्क स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था । स्वामी विवेकानन्द दीवान सेक्रटरी रामय्यर के यहाँ ठहरते थे । रामय्यर और चन्तुलाल दोनों मित्र थे । दोनों सरकारी नौकरी से अवकाश-प्राप्त थे । उन्होंने वेदांत संबन्धी कार्यों में स्वामी विवेकानन्द से चर्चा एवं विचार-विमर्श करने के लिए स्वामी जी महाराज से अभ्यर्थना की । दो-चार बार के सन्दर्शनों एवं संभाषण मे दोनों युग-पुरुष आपस में समझ सके । स्वामी विवेकानन्द स्वामी जी से मिलकर अत्यधिक प्रसन्न हुए थे । प्रथम दिन 'चिद्मुन्द्रा' के संबन्ध में जब विवेकानन्द ने प्रश्न किया तो, स्वामी जी ने एक उपनिषद् श्लोक का उद्धरण करते हुए प्राणायाम के चिद्मुद्रा की महत्ता की आधिकारिक रूप से व्याख्या की । उनकी प्रतिपादन-रीति, विद्वत्ता, प्रस्तुत विषय के बारे में अपार अभिज्ञता आदि देखकर स्वामी विवेकानन्द अतीव पुलकित हो गये । बाद में विवेकानन्द ने स्वामी जी के बारे में उच्च अभिमत प्रकट किया है और उसके फलस्वरूप बहुत से उत्तर हिन्दुस्तानी संत स्वामी जी के दर्शनार्थ केरल आये ।

एरणाकुलम से स्वामी जी वैक्कम आये । (यहाँ एक प्रसिद्ध देवालय है) और पुट्टनाल नामक ईषवा जाति के एक प्रसिद्ध वैद्य पतारी के भवन में कुछ दिन ठहरे । कहा जा चुका है कि श्री नारायण गुरु ईषवा समाज के थे और देश में यह बात प्रसिद्ध हो चुकी थी कि श्री नारायण गुरु स्वामी जी के शिष्य हैं । इस कारण से ईषवा समाज के लोग भी स्वामी जी का अत्यधिक आदर करते थे और उनको यथोचित सत्कार देते थे । इस पुट्टनाल वैद्य के यहाँ ठहरते समय एक घटना हुई, जिसके कारण उस प्रदेश में स्वामी जी की प्रशस्ति फैल गयी थी । वहाँ रहने-वाले एक पठान अफसर का एक विकट श्वान जंजीर तोड़कर बाहर निकला और अनेक लोगों को काटकर विवश कर डाला । कुत्ता खूंख्वार बाघ के समान सर्वत्र घूमकर सब को भय-भीत करने लगा, तो उसका यजमान पठान अफसर भी परेशान हो गया । उन्हें लगा कि कुत्ते को अब वश में कर लेना असंभव है । शायद वह पागल हो चुका होगा । तुरंत ही पठान अफसर ने उसे मारने का निश्चय किया और बन्दूक लेकर घर से निकल गये । यह घटना पुट्टनाल भवन के बिलकुल निकटवाले एक स्थान पर थी । समाचार पाकर स्वामी जी महराज उठ खड़े हुए और यह कहकर कि "कुत्ता क्या मनुष्य से बलशाली हो गया है ?", घटना-स्थल पर पहुँच गये । उनके पीछे- पीछे पुट्टनाल भवन में उनके दर्शनार्थ आये हुए सब लोग कुतूहल-वश चलने लगे थे । घटना-स्थल पर पहुँचकर स्वामी जी ने देखा कि कुत्ता एक बकरे को मारकर उसका मांस खा रहा है और चारों ओर देखकर गुर्राटा लेता है । इस बीच पठान अफसर भी वहाँ उपस्थित हुए और बन्दूक लेकर दूर खड़े हो गये । ठीक इसी समय स्वामी जी सब लोगों को दूर ही छोड़कर कुत्ते की ओर चलने लगे । हाय ! स्वामी जी को देखते ही कुत्ता एकदम उनकी ओर टूट पड़ा और दर्शक लोग "हाय स्वामी जी हाय स्वामी जी' पुकारने लेगे । पर, स्वामी जी ने उस खूंख़्वार जानवर को इतने में अपना वशवर्ती बना लिया है !! उसका कान पकडे उस ओर वे लौटे, जहाँ सोग बडे आश्चर्य और भय के साथ खड़े हुए देख रहे थे । लोग चमत्कृत होकर आह्लाद से 'स्वामी जी स्वामीजी पुकारकर शोर मचाते रहे ।

यह घटना बिलकुल प्रासंगिक मात्र थी । कोई महत्वपूर्ण घटना भी नहीं थी । क्योंकि, इसप्रकार के अनेक विकट सन्दर्भों का स्वामी जी ने निर्भय सामना किया है; अपने चमत्कार को प्रकट करने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि, सन्दर्भ के अनुसार जो करणीय है उसे करने केलिए ।

वैक्कम से स्वामी जी चेर्त्तला, तुरवूर आदि जगह गये । इसी यात्रा में

आपके पास आया हुआ एक व्यक्ति था पद्मनाभ पणिक्कर, जो स्वामी जी की सेवा-शुश्रूषा करते हुए उनकी समाधिपर्यंत उनके साथ रहा था। एक कुलीन परिवार में जन्म-प्राप्त पणिक्कर बचपन से सुशील एवं ईश्वर भक्त था। उसने स्वामी जी की संतत सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त किया। एक ही जगह पर स्वामी जी अधिक दिन तक ठहर नहीं सकते थे। हमेशा भ्रमण शील रहते थे। वे अपने गृहस्थ शिष्यों को अहिंसामय जीवन व्यतीत करने और प्रेम और अनुकंपा से अपने मन को सदैव सरल बनाए रखने का उपदेश दिया करते थे। कोच्चु वेलुपिल्लै नामक एक वकील के यहाँ वे कुछ दिन ठहरे थे। उन्हीं दिनों में स्वामी जी के सम्पर्क में आये हुए एक सात्विक पुरुष थे नाणुकुरुप, जो पीछे उनके शिष्य बने और तीर्थपाद परमहंस नाम से प्रख्यात हुए। चेरायी अच्चुतन वैद्य स्वामी जी के एक गृहस्थ शिष्य थे। वैद्य बडे पण्डित थे और स्वामी जो को वे प्राण जैसे समझते थे। स्वामी जी कहा करते थे कि मेरा अच्चुत साक्षात् अच्चुत है।

स्वामी जी महराज के बोये हुए बीज देश भर में उगने और पल्लवित होने लगे। स्वामी जी जैसे एक प्रकाण्ड विद्वान, ज्ञानी और सिद्ध पुरुष के आचरणों और उपदेशों का प्रत्यक्ष प्रभाव सब कहीं होना शुरु हुआ। दक्षिण तिरुवितांकूर से आप उत्तर तिरुवितांकूर गये थे। पर्याप्त भ्रमण करने से दक्षिण में उनकी धाक जम चुकी थी। इसके बाद वे कई वर्षों से उत्तर में रहने लगे थे। पर, जो बीज बोये गये उनके उगने का समय आ ही रहा था। स्वामीजी के विचारों और आचरणों की प्रतिक्रिया यह हुई कि नायर और ईषवा दोनों जातियों में उत्थान के लक्षण दिखाई देने लगे। नायर जाति के कतिपय गृहस्थ जनों के हृदय में नवीन भाव उद्वेलित होने लेगे। और कुछ करने में उनके हृदय झटपटाने लगे। उन्हीं दिनों में सी. कृष्ण पिल्लै, सदानन्द स्वामी आदि समाजोत्थारक नेताओं का आविर्भाव हुआ। तब तक ईषवा जाति के समाज-सुधारक तथा शिक्षा-प्राप्त कर्मकुशल व्यक्तियों ने श्री नारायण गुरु को अपने धर्म गुरु बना लिया था। उन्होंने अपने समाज के उद्धारण हेतु एक सभा की स्थापना की और उसके अध्यक्ष श्री नारायण गुरु रहे। उन्होंने अपने असामान्य वैभव के बल पर पतित और उपेक्षित ईषवा जाति को नेतृत्व दिया। उनकी स्थापित संस्था केसदस्य उन्हें परम आराध्य मानकर उनके वचारों को यथातथ स्वीकार कर उनका अनुसरण करने लगे। ईषवा जाति की यह उत्थान मनोदशा देखकर नायर जाति के लोग भी चुप नहीं रह सके।

इन्हीं दिनों में सदानन्द स्वामी ने अनेक स्थानों में ब्रह्मनिष्ठामठों की स्थापना की थी। सदानन्द स्वामी ने त्रिवेन्द्रम में नया उत्साह फैला दिया।

स्वामी स्वयं विद्वान, श्रेष्ठ वक्ता, और कर्मकुशल संघाटक रहे थे। जन-मंगल को लक्ष्य करके अनेक मठों की उन्होंने स्थापना की। उनके शिष्यों में अधिक ऐसे थे, जो अच्छे-अच्छे पदों पर शोभित थे और अफसर रहे थे। लेकिन, बाद में स्वामी को कई प्रकार की रुकावटों का सामना करना पड़ा था और संघर्षशील न होने के कारण उनके मन का उत्साह थमने लगा। जो अदम्य प्रेरणा स्वामी सदानन्द के मन में अपने समाज के प्रति रूढ़मूल रही थी उसके बल पर वे अपना साहस प्रकट कर सके। पर, प्रतिबंध की शक्ति उनके साहस से भी आगे रही थी। इसलिए उनकी गति रुक गयी। अपने ही समाज के लोगों से ऐसी रोक होने से उनका सारा उत्साह मंद पड़ गया। वस्तुतः यह एक दृष्टांत था कि उन दिनों नायर समाज में एक प्रतिबद्ध धारणा कायम नहीं रही थी। समाज का उत्थार करने और उसको सम्पन्न बनाने का यत्न केवल सपना बना रहा था। इस लक्ष्य को मानकर नेतृत्व अर्पित करनेवाले लोग निकल नहीं आते थे। जो भी निकल आते थे उन्हें परिहास और निन्दा का सामना करना पड़ता था। फलस्वरूप कोई प्रतिभाधनी आदमी यह साहस नहीं करता था कि स्वयं अपने तन-मन-धन का अपव्यय करे। शायद इस परिस्थिति को महर्षी चट्टम्पी स्वामी जी खूब पहचानते थे। इसलिए उन्होंने भी नेतृत्व का दावा अपने ऊपर लादने नहीं दिया था। नायर समाज छितरा हुआ एक ग्रंथ है। उसके पृष्ठ ग्रंथि-बंधन से मुक्त थे। यह जानकर स्वामी जी महाराज ने परोक्ष रूप से ही नायर जाति को नेतृत्व देना शुभकर माना था। परन्तु स्वामी श्री नीलकण्ठ तीर्थपाद के ध्यान को इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने दिशांतरित कर दिया। स्वामी श्री नीलकण्ठ तीर्थ पाद श्रेष्ठ ज्ञानी और योगनिष्ठ संत थे। उन्होंने नायर समाज की पुरानी और गतानुगतिक रीति का उन्मूलन करके उसे नये पथ पर लाने का दृढ़-संकल्प किया। उन्होंने नायर समाज के आचार-विचारों में नवीन संकल्प भर दिये, जिसका परिणाम अच्छा हुआ। स्वामी तीर्थ पाद के विचारों एवं उपदेशों से नायर समाज एकदम जग गया और वह उनके सुझाये मार्ग का स्वागत करने को तैयार हुआ। यह नया रुख देखकर स्वामी जी महराज भी प्रसन्न हुए। वे अपने शिष्य स्वामी तीर्थपाद की यथासाध्य सहायता करने में दत्त-चित्त हो गये। नायर समाज के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने स्वामी जी महराज से प्रार्थना की कि वे अपने अपार पांडित्य एवं ग्रंथ-परिचय से समाज का अवश्य उत्थार करें और श्री नीलकण्ठ तीर्थ पाद को इस दिशा में सहायता प्रदान करें। वस्तुतः इस प्रेरणा का फल संतोषजनक हुआ। स्वामी जी महराज ने अपने अनुभव एवं शोध-कार्य से प्राचीन 'मलयालम' संज्ञक ग्रंथ का निर्माण-कार्य करना शुरू किया। अनेक वर्षों के प्रयत्न फल से उन्होंने उस ग्रंथ को तीन अंशों में विभक्त करके

इसका प्रारूप बना दिया। हमेशा भ्रमणशील स्वामी जी महराज ने अपनी यात्रा के अवसरों में ही प्रस्तुत ग्रंथ का रचना-कार्य किया था। पर, जहाँ-जहाँ वे ठहरे थे वहाँ-वहाँ पाण्डुलिपि छोड़ जाते थे और इस कारण से तीनों अंशों का प्रकाशन अब तक हो नहीं पाया है। प्रस्तुत ग्रथ का प्रथम अंश ही अब तक प्रकाशित हुआ है। प्रथम अंश में यही कार्य-विचार हुआ है कि केरल का पुरातन इतिहास क्या था और इस इतिहास के आधार पर नायर-समाज का क्या स्थान था। अप्रकाशित दूसरे अंश में स्वामी जी महराज ने इसका समर्थन कर लिया है कि नंपूतिरी, एम्प्रान और पोट्टी आदि उच्च वर्ण वाले ब्राह्मण भी नायर हैं। तीसरे अंश में प्राचीन ग्रंथों का संकलन करने का उनका विचार था। प्राचीन मलयालम ग्रंथ का निर्माण करते हुए स्वामी जी का लक्ष्य यही था कि जो समाज केरल का अपना पुरातन समाज है उस नायर समाज पर ब्राह्मणों का कोई आधिपत्य नहीं है और नायर समाज स्वतः एक उत्कृष्ट समाज रहा था। मलयालम ब्राह्मणों का केरल प्रदेश पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं है, इस सत्य की स्वामी जी ने प्रस्तुत ग्रंथ में स्थापना की है। उन्होंने केरल की स्थापना के बारे में परशुराम की कथा को निराधार प्रमाणित किया है और स्पष्टतः कहा है कि परशुराम का दिया हुआ कोई भूप्रदेश नहीं है केरल, प्रत्युत वह एक मनगढंत कल्पना मात्र है। अतः परशुराम के नाम केरल पर ब्राह्मणों का कोई हक शेष नहीं रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ के द्वारा स्वामी जी महराज ने नायर वंश को श्रेष्ठ वंश स्थापित किया है और नायर का केरल पर पूर्ण अधिकार मान लिया है। प्राचीन कृतियों में नायर वंश को 'नाग', 'नागत्तान' 'नागवर' 'नायक' आदि नामों से बुलाया जाता था। स्वामी जी ने प्रस्तुत नामों की उत्पत्ति और प्रामाणिकता पर शोधपरक दृष्टि से विचार किया। अनेक ग्रंथों में से सार तत्वों को अपनाया। वस्तु-स्थिति का विश्लेषण किया। और पुरातन केरलीय आचार-विचारों की छान-बीन की। इसके आधार पर ही उन्होंने यह स्थापित किया कि नायर वंश का स्रोत केरल के भीतर हुआ और नायर वंश केरल का अपना स्वत्वाधिकारी है।

सन् १९१३ में महर्षि विद्याधिराज महराज की साठ वर्ष की आयु की पूर्ति में उनके शिष्यों और भक्तों ने मिलकर षष्टिपूर्ति समारोह सम्पन्न कर दिया। इस समारोह का नेतृत्व स्वामी जी के शिष्य स्वामी तीर्थपाद परमहंस ने लिया था। जब परमहंस स्वामी ने अनुमति के लिए लिखा तब स्वामी जी महराज ने अनुमति देकर उन्हें अनुगृहीत किया। धूम-धाम से समारोह सम्पन्न हुआ। एषुमट्टूर नामक

गाँव में स्वामी दयानन्द की अध्यक्षता में एक विराट सभा हुई । स्वामी नीलकण्ठ तीर्थपाद ने भी उस समारोह में भाग लिया । स्वामी जी महराज की स्तुति, वन्दन आदि गम्भीरता के साथ चले । उसी दिन, वहाँ स्वामी जी महराज ने 'परम भट्टारकाश्रम' का प्रोद्घाटन किया । स्वामी जी महराज की प्रशस्ति में एक बृहद् ग्रंथ भी उसी दिन प्रमोचित हुआ । महर्षि विद्याधिराज महराज ने कुछ दिन 'परम भट्टारकाश्रम में विश्राम किया । वहाँ, भारतीय ऋषि परंपरा का सा जीवन था स्वामी जी का । आश्रम के खेतों में ऐसे पोधे उगते थे, जिन्हें वे पसन्द करते थे । केले जैसे फलदवर पौधे यथेष्ट फलते थे पर, उनके पक जाने पर, वहाँ रहनेवाले प्राणियों के लिए भी कुछ फल अछूते छोड़े आते थे । पक्षी और अन्य प्राणी वहाँ स्वच्छन्द विचरते थे । न किसी का किसो से भय या संकोच होता था । शिष्यों एवं भक्त-जनों का मधुर सहवास उन्हें प्राप्त था । जहाँ ऋषि रहते हैं वहाँ मंगल ही मंगल है । आश्रम की स्थापना के पश्चात् दस साल तक स्वामी जी जीवित रहे थे और अपनी उपस्थिति से जनमंगल प्रदान करते रहे थे । लेकिन, अपने जीवन के अंतिम दिनों में भी उन्होंने भ्रमण करना नहीं छोड़ा था । स्वामी जी महराज जहाँ भी रहा करते थे वहाँ संगीत, वाद्य-वादन आदि का असुलभ वातावरण कायम रहता था । भक्त-जनों की भीड़ लगती थी । वेदांत-चर्चाएं चलती थीं । बच्चों के साथ खेलते हुए वे उन्हें प्रहर्षित कर देते थे । शिष्यों की शंकाओं का निवारण किया करते ते । जिज्ञासू पुरुष की शक्ति और लगन के अनुसार स्वामी जी उसे ज्ञान प्रदान करते थे । विद्यावारिधि स्वामी जी महराज, स्वयं जो प्रकाशमय थे दूसरों को भी सचैतन्य कर देते थे ।

स्वामी जी महराज के अंतिम वर्षों तक नायर समाज और ईषवा समाज दोनों काफी सुधरी हुई स्थिति में पहुँच चुके थे । इस क्रांतिकारी ओजस्विता और नवोन्मेष के मूल में महर्षि विद्याधि राज स्वामी जी की मंगल-कामना काम कर रही थी । ऋषि होने पर भी स्वामी जो की सदिच्छा समाज को समृद्ध करने एवं पवित्र बनाने में क्रियाशील रही थी । केरल के हिन्दु धर्म के अंतर्गत नायर और ईषवा समाज पतनोन्मुख स्थिति तक पहुँच चुके थे । स्वामी जी ने अनुभव किया था कि इन दोनों समाज के उत्थान के साथ ही केरल प्रदेश का उत्थान हो सकता है । अत: परोक्ष रूप से ही सही, स्वामी जी ने अपने शिष्यों के माध्यम से दोनों समाजों को उत्तेजित किया था और उनमें नवप्राण का संचार कर दिया था । फलत: स्वामी जी की साठ-पैंसठ वर्षों कि अवस्था तक दोनों समाज के अनेक श्रेष्ठ शिक्षित नायक हुए और उन नायकों के अथक प्रयत्न से समाजगत विसंगतियों एवं अंध-विश्वासों

का एक हद तक उन्मूलन और समाज को उत्थान प्राप्त हुआ। इस परिवर्तन का सुफल दोनों समाजों के जीवन में यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देने भी लगा था। परन्तु, फिर भी इन दिनों में ही एक नयी अनहोनी बात भी हो गयी। बात यह थी कि ईषवा समाज श्री नारायण गुरु के नेतृत्व में जब अभिवृद्धि पा गया, तब उस समाज के कतिपय व्यक्तियों ने श्री विद्याधिराज स्वामी जी को श्री नारायण गुरु के गुरु मानने में विरोध प्रकट किया। 'मितवादी' नामक एक अखबार में ऐसा एक लेख आया जिसके अनुसार श्री चट्टम्पि स्वामी जी नारायण गुरु के गुरु नहीं थे। इस आशय का खण्डन करते हुए कतिपय नायर नेता भी मंच पर आये। लेकिन, इस वाद-विवाद में दोनों संत मौन साधे रहे थे।

लेकिन, ईषवा वंश के कई ऐसे उत्तम विद्वान श्री विद्याधिराज महराज के संपर्क में रहे थे और स्वामी जी के आशिर्वाद के फलस्वरूप उनमें कवित्व शक्ति भी प्रबल दशा में दिखाई देती थी। स्वयं ऐसे गृहस्थ शिष्यों को कवि बनाने के लिए स्वामी जी भी कविता रचते थे। यह तो प्रसिद्ध बात है ही। स्वयं नारायण गुरु ने भी अपनी कविता 'नवमंजरी' में चट्टम्पि स्वामी जी को गुरु बताया है।

"शिशुनाम गुरोराज्ञां
करोमि शिरसा वहन्
नवमंजरीकां शुद्दी-
कर्त्तुमरहसि कोविदाः"

उपर्युक्त पंक्तियों में 'शिशुनाम' शब्द तो कुञ्ञनपिल्लै (चट्टम्पि स्वामी के आद्यनाम) को सूचित करनेवाला होता है। षंमुखदास, शिशुनामक, बालाह्वन, परमभट्टारक इत्यादि नामों से स्वामी जी जाने जाते रहे थे। इसके अलावा अनेक ईषवा कवियों की कविताओं में यह उल्लेख मिलता है कि स्वामी जी महाराज श्री नारायण गुरु के गुरु थे। कई सन्दर्भों में स्वामी जी ने यह सूचित कर दिया है कि नारायण गुरु मेरा शिष्य हैं। 'देवार्चापद्धति' नामक ग्रंथ के उपोद्घात में इसप्रकार लिखा है—"योगज्ञान में पारंगत होने के लिए नाणु गुरु मेरे साथ रहे हैं, जिन्होंने योगज्ञान-संबंधी तत्वों को संप्रदाय के अंतर्गत मानकर उन पर अमल प्राप्त किया और फलसिद्धि प्राप्त की है।"

एक अन्य पत्र में, जो स्वामी जी महराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी जी को भेजा था इसप्रकार लिखा है "मैं और श्री नारायण गुरु स्वामी जो योग ज्ञान

संबंधी कार्यों में मेरा शिष्य था........" । पर इस वाद-विवाद के संदर्भ में भी श्री नारायण गुरु मौन रहे थे । उनके मौन से शंकित होकर एक व्यक्ति ने स्वामी जी से संदेह प्रकट किया । तब स्वामी जी ने यही उत्तर दिया—"अग्नि के पास चींटे नहीं जाते ।"

बाद में, इस विषय पर विशद अध्ययन करके ईषवा समाज के ही प्रकांड पण्डित प्रोफसर बालराम पणिक्कर ने निम्न प्रकार का अभिमत प्रकट किया है— "श्रा चट्टम्पि स्वामी को, जिन्होंने श्री नारायण गुरु को सर्वजन पूजित बना देने योग्य अत्यंत पवित्र उपदेश और सहारा प्रदान किया है, अवश्य ही उनके गुरुओं में मुख्य मानना ही चाहिए ।

श्री नारायण गुरु के शिष्यों में प्रथम माने जाने वाले हैं श्री नटराज गुरु । उन्होंने प्रस्तुत विषय के संबन्ध में अपने ग्रंथ 'The word of the Curu' में निम्न प्रकार लिखा है :

"In his early wanderings, the Guru was influenced by two personalities who deserve mention here. One of these was called Kunjan Pillai. He was a chattampi, senior or monitor of the sanskrit school where the Guru went for his finishing course in sanskrit rhetoric. Later he became an elder brother and companion in the wanderings of the Guru. In fact, round the person of this senior companion who represented the soil native wisdom of the soil was noticed a kind of renaissance, literary, cultural and spiritual in the Travancore of the early nineties. A group including poets, grammarians, yogis and medical men versed in Ayurveda helped in the impetus given to native wisdom. The invention of steam, the scientific renaissance with many other inventions and discoveries made during the long reign of Queen Victoria, all contributted a share to this flowering in the far south of India, bringing new values into the atmosphere,

The Guru's sensitive spirit responded to the situation surprisingly. Kunjan Pillai Chattampi, who was one of the leaders of the renaissance group recognized early the potentialities of the Guru Narayana and consciously encouraged

him to unfold and open on and by his intelligent elderly guidance, helped the shy, young and retiring Nanu of those days. One of the early compositions of the Guru called Navamanjari (Nine verses) expressly recognizes at the beginning how it came to be written at the instance of the sign Nanu Guru, which is the sanskrit designation for the name of Kunjan Pillai whom the Guru Narayana, at the start of his own career avowedly called a "Guru". This is as good as calling him his own "Guru"

The relation between them has been the subject of some interested controversy, but once on being questioned about the Guruhood of the Chattampi Swami, the Guru Narayana said he saw no objection in taking Chattampi Swami as Guru. He readily acepted the senior companion and paid full respect to him, conceding him all priority."

उपर्युक्त प्रामाणिक वक्तव्यों तथा अभिलेखों से यह बात निर्विवाद सत्य स्थापित होती है कि श्री नारायण गुरु जी महर्षि विद्याधिराज महराज के शिष्य थे। जब स्वामी जी की महासमाधि हो गयी तब नारायण गुरु ने निम्न लिखित श्लोक लिखा, जिससे वे अपने शिष्य होने की किसी प्रकार की आशंका अथवा संदेह छोड़ नहीं गये हैं। उन्होंने दो ही पद्यों से अपने गुरु देव की गरिमा, प्रकाण्ड ज्ञान, और विभुता को प्रदर्शित करने के साथ गुरु के प्रति अपार आदर-भाव भी प्रकट किया है। श्लोक यों हैं:

"सर्वज्ञ ऋषिरुत्क्रांतः सद्गुरु शुकवर्त्मना
आभाति परमव्योम्नि-परिपूर्ण कलानिधिः
लीलया कालमधिकं-नीत्वान्ते स महाप्रभुः
निस्वं वपुस्समुत्सृज्य-स्वब्रह्मवपुरा स्थितः"

वस्तुतः दोनों योगियों ने भारतीय संस्कृति के महान् तत्वों का ही उद्घोषण किया था। जगद्गुरु शंकराचार्य, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, कबीर, नानक, तुलसीदास चैतन्य महाप्रभु, स्वामी दयानन्द सरस्वती रामतीर्थ आदि भारतीय महापुरुषों की कोटि में दोनों महागुरु आसीन हैं। उनकी दिव्य वाणी और दिव्य जीवन मानव मात्र ही नहीं प्राणी मात्र के लिए अनुग्रहदायक हैं। दोनों

सिद्ध पुरुषों ने आत्मा के एकत्व एवं अमरत्व की घोषणा की और उसी महती विश्वात्मा में विलीन हो गये।

आलत्तूर ब्रह्मानन्द शिवयोगी नामक एक ज्ञानी संत उत्तर केरल में रहते थे। उनकी 'मोक्षप्रदीप' नामक रचना में विवाद की काफी सामग्री प्राप्त है। इस ग्रंथ में ज्ञानमार्ग को नगण्य स्थान ही दिया गया है। योग को सर्वाधिक महत्व पूर्ण स्थापित करने के लिए अन्य ईश्वरीय मार्गों को निस्सार स्थापित करने की चेष्टा इस ग्रंथ में की गयी है। अनेक पंडितों ने स्वामी जी महराज से इस पुस्तक का खण्डन करने की प्रार्थना की। उन्होंने मोक्षप्रदीप पढ़ा और पाया कि इसके योगज्ञान सबंधी अभिमतों का उसी रूप में स्वीकार करना ठीक नहीं है। अतः स्वामी जी ने मोक्षप्रदीप का खण्डन तैयार किया। ब्रह्मानन्द शिवयोगी के शिष्यों ने जब यह जाना तब वे विवश पड़ गये। उन्होंने स्वामी जी महराज से बिनती की कि खण्डन-ग्रंथ का प्रकाशन कृपया मत करावें। इस अभ्यर्थना के कारण उस रचना का प्रकाशन नहीं किया गया।

उत्तर केरल के पालघाट जिले में आलत्तूर नामक गाँव अतीव शान्त तथा एकांत स्थान है। वहाँ ब्रह्मानन्द शिवयोगी ने अपना आश्रम स्थापित किया है जो आज भी अच्छी स्थिति में चल रहा है। ब्रह्मानन्द शिवयोगी अपार पाण्डित्य रखते थे और उन्हें लोग सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनका आश्रम-जीवन त्यागमय और तपोमय था। उन्होंने जो सिद्धांत स्थापित किया था उसी का आचरण भी किया करते थे। वे मन को सर्वतोप्रमुख मानते थे और उस मनस्तत्व का समर्थन करने के लिए उन्होंने वेदोपनिषदों तथा पुराणों का अवलम्ब लिया था। और जहाँ-जहाँ अपनी दृष्टि में खण्डन अनिवार्य जान पड़ा वहाँ-वहाँ उन्होंने निर्भीक खण्डन भी किया था। श्री ब्रह्मानन्द शिवयोगी, जैसे मेधावी एवं विज्ञ संत थे वैसे अपने अनुभव के तत्वों को लिपि-बद्ध करने में भी प्रयत्नशील रहे थे। बाह्य-आचरण मात्र से कोई शान्ति प्राप्त नहीं करता। तत्वों को जानना और तदनुसार जीवन व्यतीत करना यही सही जीवन-मार्ग है। अन्यथा जाने हुए तत्वों के विरुद्ध जीवन बिताने से लक्ष्य तक पहुँचना असाध्य है। ब्रह्मनन्द शिवयोगी ने भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के जीवन-तत्वों को समन्वित करने की चेष्टा की थी। "मनोजय एवं महाजयः," "अहिंसैव परमो धर्म" "आनन्द एवं विजयते' इत्यादि तात्विक सिद्धांतों से संसार को अभिवेद्य कर देना ही श्री शिवयोगी का लक्ष्य था। वस्तुतः इन सिद्धांतों के विरुद्ध सोचने की अपेक्षा ही नहीं रहती, क्योंकि ये तत्व जीवन और मोक्ष के सच्चे मार्ग है। श्री शिवयोगी ने अपने इन सिद्धांतों को अनपेक्षित

आचरणों तथा कर्म-काण्डों के खण्डन द्वारा समर्थित करने की चेष्टा तो की। उन्होंने कहा है कि "हिन्दू धर्म रूपी रत्नाकर में डुबकियाँ लेकर असंख्य साधक डूब मरते हैं। और कभी-कभी उस समुद्र के मगरमच्छों और हिंस्र जन्तुओं के शिकार बन जाते हैं। इस घोर विपत्ति से मुक्ति पाने के लिए महापुरुषोंने योग को अलग सुरक्षित रखा है। फिर भी, काल-गति के अधीन होकर उसमें भी जटिलता एवं कृत्रिमता आ लगी है। संस्कृत में तो इसका उल्लेख तो है, जो मात्र पण्डितों के लिए ही उपयोगी है। मैंने मुक्तिमार्ग के पथिकों के लिए योग-चर्या और उसकी विद्या पर पूरा प्रकाश डाला है। समुद्र में मोती हैं, पर हर कोई समुद्र में डूबकर मोती पा ले और उससे माला बनावे, इसकी आवश्यकता नहीं। यदि सुगमता से मोती मिले, तो उसे उसी सुगमता के मार्ग से पा लेना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा पूरे समुद्र में डूबता फिरे और निराश हो जाय, यह आवश्यक नहीं है।"

इस कथन का यही तात्पर्य है कि श्री शिवयोगी ने योग को सब से अधिक महत्व प्रदान किया। कर्म-काण्डीं लोगों के लिए उनका सिद्धांत अव्यावहारिक लगा। यही नहीं, गीता में भक्ति और ज्ञान का महत्व भी स्थापित हुआ तो है। साधारण मनुष्य के लिए योग-मार्ग बिलकुल अप्राप्य बताया गया है। क्योंकि उस मार्ग के साधक को पग-पग पर अत्यंत जागरूक रहना पड़ता है, जहाँ, भक्ति-मार्ग के पथिकों को थोड़ी बहुत सरलता एवं सुगमता का होना बताया गया है। लेकिन, श्री शिवयोगी ने ऐसे भक्ति-मार्गीय आचारों और कर्म-काण्डों को व्यर्थ एवं जटिल-स्थापित किया है। मोक्षप्रदीप-खण्डन का सन्दर्भ इसी कारण से निकल आया था। पर, अन्ततोगत्वा महर्षि विद्याधिराज जैसे पहुँचे हुए सिद्ध पुरुष के लिए ब्रह्मानन्द शिवयोगी के सिद्धांत से कोई संघर्ष ही नहीं था। शायद यही कारण था कि उन्होंने श्री शिवयोगी के शिष्यों की प्रार्थना को बाद में स्वीकार किया और खण्डन-ग्रंथ को अप्रकाशित छोड दिया था। खण्डन तो लिखा, अपने भक्तों के लिए और उन्हें प्रसन्न करने के लिए। उन शिष्यों के लिए खण्डन का अवश्य महत्व भी था। लेकिन स्वामी जी महराज ने योग और ज्ञान की जो व्याख्या की है वह सूक्ष्म एवं गहन थी। अपने अकाट्य प्रमाणों एवं स्थापनाओं से महर्षि विद्याधिराज महराज ने अध्यात्म सम्बन्धी शास्त्रों का सांगोपांग विवेचन किया। सर्व वेदान्त-सारों के ज्ञाता एवं प्रयोक्ता होने से मोक्षप्रदीप का खण्डन करते हुए भी उनके ज्ञान के अवगाहन का स्पष्टीकरण हो पाया है।

इन्हीं दिनों में स्वामी जी महराज ने ऐसे अनेक लेख एव ग्रंथ लिखे, जो

शंकराचार्य की ब्रह्म-सिद्धांत सम्बन्धी व्याख्याओं की अगली कड़ी के रूप में प्रमाण-सिद्ध हैं। 'वेदाधिकार निरूपण', 'अद्वैत पंजरम्', 'परम भट्टार दर्शनम्', ब्रह्मतत्व निर्भासम्', 'चिदाकाश लयम्' 'वेदान्त सारं' इत्यादि लेख जो आपने लिखे हैं सब का सार अद्वैत की समुचित व्याख्या स्वरूप है। प्रस्थानत्रय का विश्लेषण करके आचार्य शंकर ने वेदोपनिषद् का रसपान कराया। इसके बाद तुंचत्तु रामानुजन एषुत्तच्चन ने केरलीय जनता के लिए आचार्य स्वामी की व्याख्याओं को प्रति-स्थापित करने योग्य काव्य-पाठ प्रस्तुत किये। याने जन-मनों में वैचारिक धरातल स्थापित करने योग्य रीति से कथात्मक साहित्य के रूप में बहुत कुछ प्रदान किया। एषुत्तच्चन की रामायण, भागवत्, भारत और स्वतंत्र रचनाओं ने केरलीय जनता के प्रज्ञा-मण्डल को ब्रह्म संबंधी दर्शन के आस्वादन के लिए काफी बल दे दिया। एषुत्तच्चन के बाद नवीन केरल की सांस्कृतिक नींव मजबूत कर दी है महर्षि विद्याधि राज महराज ने और श्री नारायण गुरु ने। उन्होंने ब्रह्म चिन्तन का मार्ग पण्डित और पामर दोनों के लिए प्रशस्त कर दिया। ब्रह्म-विद्या के अधिकारी वही हैं, जो जिज्ञासू हैं, यही स्वामी जी ने स्थापित कर दिया था। इसप्रकार ब्राह्मण की ही भांति, क्षत्रिय, वैश्य से आगे बढ़कर शूद्र तक को उन्होंने ब्रह्मज्ञान का अधिकारी सिद्ध कर दिया। जहाँ क्षत्रिय और वैश्य पढ़ने मात्र के लिए अधिकारी रहे थे वहाँ उन्हें भी पढ़ाने के लिए योग्य ठहराया। शूद्र तो अक्षर तक पढ़ने का अधिकारी नहीं था। उसे स्वामी जी ने अनेक उदाहरणों एवं श्रुति-वाक्यों को उद्धृत करके ब्रह्म-विद्या पढ़ने और उसका आचरण करने का उत्तम पात्र बना दिया। स्वामी जी महराज स्थित-प्रज्ञ योगी थे। उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा भावी समाज की सांस्कृतिक उन्नति के लिए लिखा। अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में श्री नारायण गुरु ने जो कहा वह अक्षरश: सही है—"श्री व्यास देव और आचार्य शंकर दोनों मिलकर हमारे गुरु बन जाते हैं—मूल और भाष्य दोनों का समन्वित स्वरूप"

स्वामी जी महराज की रचनाएं ऐसी थीं जो केरल की संस्कृति की श्रीवृद्धि की दिशा में प्रेरणादायक थीं। उनके जीवन काल में उन्हीं के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव से केरल की मनीषा में आध्यात्मिकता का परिवेश अनुभूत होता था। एक सम्पूर्ण जीवन के नानाविध तत्वों का समावेश स्वामी जी में होता था। ऐसा कोई जागतिक विषय नहीं था, जिसपर स्वामी जी का अधिकार न हो। लेकिन अपनी अगाध गरिमा को वे कभी प्रकट करना नहीं चाहते थे।

जीवन का अन्तिम चरण

भारतीय जीवन के प्रांगण में सन्यास का चित्र सहज और स्वाभाविक है। सन्यास के भी असंख्य स्वरूप दर्शित होते हैं। भारतीय ऋषि जनमंगल के मूर्त रूप हैं, और स्वयं तपोलीन व्यक्तित्व से भूषित भी। वे संसार और मोक्ष के बीच के सेतु-स्वरूप हैं। क्षणभंगुर जीवन को उदात्त आदर्श से आकर्षित कर त्यागमय बनाने की दिशा में ये ऋषि हमेशा प्रयत्नशील भी हैं। यदि हिमालय प्रांतों में आत्म-साक्षी होकर दिव्य ज्योति रूप में विचरनेवाले ऋषि होते हैं, तो वे भी जगत का मंगल ही चाहते होंगे और उनकी पवित्र इच्छा-शक्ति से ही हम सत्य का अवलम्ब लिए रहते हैं।

महर्षि विद्याधिराज महराज तपोनिष्ठ तो थे और आर्ष-परम्परा के अनुरूप अद्वैत सिद्धांत के मूर्तिमन्त रूप थे। ऋषि-जीवन, पवित्र संकल्प, अपार विद्वत्ता, भक्तजनों की मंगल-कामना और संचार-प्रियता से केरल के जन-जन में उनके प्रति अपरिमेय श्रद्धा भाव रहा था। जहाँ कहीं उनकी उपस्थिति होती वहाँ के ग्राममासी-सब स्तरों के लोग—अपना अहोभाग्य मानते और उनका प्रसाद एवं आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए लालाइत हो जाते। इसप्रकार स्वामी जी केरल के लोगों के लिए अनुग्रह दायक एवं पूजनीय संत पुरुष थे। उनके जीवन-काल में ही श्री चट्टम्पि स्वामी जी के फोटो एवं तैल-चित्र केरल के घर-घर में शोभित होने लगे थे। सम्मान्य और प्रतिष्ठित गृहस्थ उनके भव्य चित्र को अपने घर में रखकर स्वयं गौरव शाली हो जाते थे और आज भी केरल के असंख्य भवन ऐसे हैं, जहाँ परम भट्टारक विद्याधिराज स्वामी जी के छपे चित्रों और तैल-चित्रों से अलंकृत हैं।

अपने शिष्योत्तम स्वामी नीलकण्ठ तीर्थपाद की समाधि के बाद भी स्वामी महराज एक ही जगह स्थाई रूप से नहीं रहे। इस बीच उन्होंने अनेक शोधपरक निबन्ध लिखे थे। पर, उनका प्रकाशन यथोचित नहीं हुआ। जिनके पास वे आ गये थे वे उन्हें अपने ही पास रखे रहे थे। अपने अंतिम दिनों में स्वामी जी महराज इरिंगालक्कुटा नामक गाँव के तत्तंपल्ली भवन में कुछ दिन विश्राम लेते हुए रहे। उस भवन के मालिक श्री कुंञुण्णि मेनन और उनकी धर्म-पत्नी मीनाक्षी दोनों स्वामी जी महराज के गृहस्थ शिष्य थे। उसी गाँव में प्रसिद्ध नायर वंश के एक सज्जन थे तच्चुटय कैमळ्। श्री तच्चुटयकैमळ् स्वामी नीलकण्ठ तीर्थपाद के शिष्य भी थे, जिन्होंने अपने गुरुदेव की समाधि के पश्चात् 'सद्गुरु' नामक मासिक पत्रिका के संचालन की जिम्मेदारी स्वयं उठा ली थी। जब स्वामी जी महराज का संपर्क

उन्हें प्राप्त हुआ तब श्री कैमळ् अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी 'सद्गुरु पत्रिका के लिए स्वामी जी से तीन लेख लिखवा लिये । वे लेख थे–'शरीर तत्व शास्त्रम्', 'देशनामङ्ङळ्' और 'ओषिविलोट्टुक्कम्' । इन लेखों का 'सद्गुरु' में 'अगस्त्यन्' के नाम से प्रकाशन हुआ । प्रस्तुत लेख भी स्वामी जी महराज की शोध–परक विद्वत्ता एवं अपार पाण्डित्य के लिए प्रमाण हैं । इसप्रकार, इरिङ्ङवालक्कुट के विश्राम के दिनों में भी वे वस्तुतः अपने भक्त-जनों की इच्छा–पूर्ति करने में दत्तचित्त रहे थे । स्वामी जी की उपस्थिति की वार्ता दूर–दूर के गाँव तक व्यापित हो जाती और वहाँ-वहाँ से भक्तजनों का प्रवाह ही हो जाता । अपने पास आनेवाले भक्तजनों को स्वामी जी मधुर भाषण, उपदेश, शंका–समाधान आदि से प्रसन्न किया करते थे । अत्यधिक प्रसन्न और प्रभावित होकर ही वे सब लौट जाते थे ।

इरिङ्ङवालक्कुट से निकलकर स्वामी जी फिर अपने पूर्व–परिचितों और भक्तों के दर्शनार्थ घूमते रहे । इस यात्रा में स्वामी जी महराज करुनागप्पल्ली पहुँचे । वहाँ के दो प्रसिद्ध नायर परिवार थे वाषत्तोट्टत्तु और कुम्पळत्तु । उन दोनों परिवार के प्रशस्त नायक थे यथाक्रम श्री वेलुपिल्लै और शंकुपिल्लै । इन दोनों गृहों में स्वामी जी कुछ दिनों तक ठहरे थे । कुम्पळत्तु भवन में रहते हुए दिन के समय उनका निवास समीपस्थ 'काव' [पुरातन नायर परिवार के भवनों के समीप दक्षिण–पश्चिम कोने में सर्पों के निवास के लिए पेड़–पौधों से भरा और लताओं से वेष्टित वन जैसा एक एकांत स्थान होता था] ["सेक्रट ग्रोव"] में था । वह 'काव' स्वामी जी को बहुत पसन्द आया । उन्होंने श्री शंकुपिल्लै से कहा कि यह 'काव' बहुत ही पुराना और पवित्र है । यहाँ मेरी समाधि होगी । जब स्वामी जी कुम्पळत्तु से फिर निकलकर त्रिवेंद्रम जाने लगे तब गृहनाथ श्री शंकुपिल्लै को स्मरण दिलाया–"सब लोगों से बिदा लेकर लौट आऊँगा 'कारनोर' ।" स्वामी जी श्री शंकुपिल्लै को बहुत प्यार करते थे । और उन्हें 'कारनोर' [मलयालम में कारनोर का आशय है घर के बड़े बूढ़े मालिक । यहाँ, स्वामी जी विशेष ममत्व तथा श्री पिल्लै के प्रतापी स्वभाव के कारण उन्हें युवक होने पर भी 'कारनोर' पुकारते थे ।] नाम से' पुकारते थे ।

श्री कुम्पलत्तु शंकुपिल्लै मध्य तिरुवितांकूर के एक प्रशस्त परिवार के नायक थे । अत्यधिक मेधावी और प्रभावकारी पुरुष थे । अपने समय में श्री शंकुपिल्लै केरल के प्रशस्त नेता और राष्ट्रीय कार्य-कर्ता थे । मध्य तिरुवितांकूर की असंख्य राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं के वे सदस्य थे और जनता में वे

धीर एवं आदर्शशाली नेता के रूप में ख्याति-प्राप्त थे। स्वामी जी महराज युवक शंकुपिल्लै की कर्मकुशलता, धीरोदात्तता, और आदर्श-शीलता पर मुग्ध हुए थे और उन्हें पुत्रवत् बहुत प्यार करते थे।

श्री कुम्पळत्तु शंकुपिल्लै स्वामी जी महराज से अतीव श्रद्धा-भक्ति के साथ ही मिलते थे। उनके मन में स्वामी जी एक अतुल्य सिद्ध-पुरुष के रूप में विराजित थे। स्वामी जी के बारे में श्री शंकु पिल्लै के निम्न-लिखित शब्द विशेष स्मर्तव्य है:

"स्वामी जी महाराज के बारे में मेरे मन में कुछ भव्य धारणायें होती हैं। मेरा उनके साथ निकट का सम्बन्ध रहा है। जब जब हम मिलते थे तब तब मैं पूजनीय पिता के रूप में उन्हें देखता था और उनकी वन्दना करता था। उनका मेरे प्रति व्यवहार पुत्रवत् रहा था। इसलिए मैंने उनसे आध्यात्मिक विषयों पर कोई परामर्श नहीं किया था। उन्होंने मेरे लिए कोई 'उपदेश' भी नहीं दिया था। फिर भी, पूजनीय स्वामी जी का सान्निध्य मेरे लिए अत्यंत श्रेयस्कर रहा था। मुझे मालूम है कि जिन-जिन को उनकी कृपा प्राप्त हुई है वे सब अपने अपने जीवन में श्रेय-प्रेय के अधिकारी बने हैं। उस महापुरुष को सही रूप में जान पाना भी सरल नहीं है। वे एक अद्भुत सागर जैसे गम्भीर थे, जिन्हें समझना-जानना कैसे संभव है? उन परब्रह्म-स्वरूप को जानना आसान तो नहीं है।"

तिरुवनन्तपुरम में रहते हुए स्वामी जी महराज रोग-बाधित हुए। उदर-सम्बन्धी रोग से वे कभी-कभी पीड़ित होते थे। वार्द्धक्य भी उन्हें दबोच रहा था। वे स्वयं अनुभव कर रहे थे कि मेरा ऐहिक जीवन समाप्त होने जा रहा है। अपने भक्त-जनों एवं शिष्यों से कहते थे-"यह शरीर अपना प्रारब्ध जब तक पूरा अनुभव कर चुकेगा तब तक हमें यहाँ रहना पड़ेगा। पर इसे अपने लिए सुरक्षित रखना उतना ज़रूरी मालूम नहीं हो रहा है।" उनके लिए यह सही बात थी। त्रिवेन्द्रम में चिकित्सा के लिए काफी सुविधा थी। लेकिन, उन्होंने पन्मना (श्री कुम्पळत्तु शंकुपिल्लै के यहाँ) लौट जाने का निश्चय किया और शिष्यों ने श्री कुम्पळत्तु शंकुपिल्लै को सूचना दी। पत्र पाते ही श्री शंकुपिल्लै स्वामी जी को ले जाने के लिए एक अच्छी नाव लेकर त्रिवेन्द्रम आये। त्रिवेन्द्रम वाले चाकै घाट पर नाव सुसज्जित रखी रही थी। स्वामी जी महराज नाव पर बैठे और उपस्थित भक्त-जनों की भीड़ से कहा-"इड़व महीने का सूर्योदय हम नहीं देखेंगे। 'अ' चला गया अब 'हम' शेष रहा है। अपनी भव्य, धवल एवं लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उन्होंने प्रियजनों से बिदा लिया। आराधकों के नयन गीले हो गये। सब ने अपने आराध्य गुरु देव

को झुककर प्रणाम किया।

नाव पन्मना को लक्ष्य करके आगे बढ़ रही थी। श्री शंकुपिल्लै की इच्छा से प्राक्कुळम् पद्मनाभ पिल्लै के बंगले के समीप नाव रुक गयी। दो–चार दिन उनके यहाँ विश्राम लेकर फिर पन्मना जावेंगे, यही निश्चय हुआ। स्वामी जी के अस्वास्थ्य की खबर पाकर चारों ओर से जन-प्रवाह प्राक्कुळम के निवास स्थान पर निरंतर होता रहा। सब को आशंका रही थी, कि गुरुदेव के अंतिम दिन समीप हो रहे हैं। स्वामी जी महराज ने आगत सब लोगों को आशीर्वाद दे दिया। समाचार पाकर श्री नारायण गुरु जी भी अपने गुरुदेव के दर्शनार्थ प्राक्कुळम पहुँचे और उनके दर्शन–वन्दन किये। गुरु देव के साथ रात बिता दी। उस दिन स्वामी जी के शिष्य स्वामी तीर्थपाद परमहंस भी उनके साथ थे। इन तीनों का अपूर्व संयोग था। स्वामी तीर्थपाद परमहंस और श्री नारायण गुरु दोनों के साथ अनेक विषयों पर वार्तालाप करते हुए स्वामी जी महराज दो-तीन घंटे तक अतीव उन्मेषवान रहे। रात में स्वामी जी के निर्देश से कुमारन आशान के 'करुणा' नामक काव्य का पाठ प्रसिद्ध विद्वान पन्नियूर नारायण पिल्लै ने किया। स्वामी जी ने बधाई देते हुए कहा कि जब पन्नियूर ने यह काव्य–पाठ किया तभी 'करुणा' नाम अन्वर्थ हुआ। काव्य तो अतीव सुन्दर है। उसे योग्य व्यक्ति के मुंह से सुनकर सुननेवाले प्रभावित होते हैं। तपोलीन वेदज्ञ पुरुषों का वह समागम अनुचरों एवं भक्त जनों को अत्यधिक आनन्द दायक और चिरस्मरणीय बन गया था। उस दिन के बारे में श्री कुम्पळत्तु शंकुपिल्लै ने इसप्रकार कहा है: "उस दिन शिष्यों के निर्बन्ध से स्वामी जी ने एक फोटो खींचने की अनुमति दी। स्वामी जी कभी नहीं चाहते थे कि फोटो के लिए कहीं बैठें, अथवा अखबारों में लेख प्रकाशित करें। वे यह भी नहीं चाहते थे कि कहीं किसी कार्य का नेतृत्व स्वीकार करें अथवा मंच मर बोलें। अपने शिष्यों की तीव्र इच्छा और अनुरोध को मानकर इसके पहले षष्टि-पूर्ति के दिन एक फोटो खींचने दिया। अब दूसरी बार अथवा अंतिम बार यही फोटो लेने दिया। इस दूसरे फोटो में दायी ओर श्री नारायण गुरु स्वामी और बाईं ओर स्वामी तीर्थपाद परमहंस आसीन हुए।"

स्वामी जी महराज अपनी रोगावस्था में भी तेजोदीप्त और उन्मेषवान दीखते थे। इधर, प्राक्कुळम में वे अपने को हमेशा भीड़ में पाते थे। लेकिन, वे एकांत में रहना चाहते थे। इसलिए, श्री शंकुपिल्लै के साथ वे पन्मना गये। पन्मना में स्वामी जी का विश्राम स्थान एक ग्रंथालय था। उस अवसर के सम्बन्ध में श्री तय्यिल कृष्ण पिल्लै निम्न प्रकार स्मरण करते हैं-

"एक दिन मध्याह्न के समय मैं ग्रंथालय का दरवाज़ा खोलकर भीतर घुसा पहले पहल मेरी दृष्टि एक 'चेरा' पर (एक प्रकार का सांप, जो अक्सर काटता नहीं) पड़ी, जो स्वामी जी की खाट के नीचे के फर्श पर कुण्डली बनाकर बैठा हुआ है ! उसी के बिलकुल समीप ही एक बड़ा मेंढ़क भी निर्भीक बैठा है ! स्वामी जी से कहा तो वे बोले: "वह सामने का दर्वाज़ा खोल दो, वे चले जाएंगे" मैंने दरवाज़ा खोल दिया और सांप धीरे-धीरे कुण्डली को ढ़ीला करके उसी दर्वाज़े के बाहर हो गया और बाद में वह मेंढ़क भी सांप के पीछे से बाहर निकल गया। स्वामी जी ने मुझसे कहाः "जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ ये सब आयेंगे। केवल तुम्हीं मेरे बन्धु नहीं हो।"

श्री तय्यिल कृष्ण पिल्लै आगे कहते हैं: "उन दिनों वैक्कम सत्याग्रह चल रहा था। रोज़ की वार्ता स्वामी जी बड़ी तत्परता से सुनना चाहते थे। स्वामी जी महराज मन्दिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह को समर्थन देते थे। एक दिन दीवार पर महात्मा गान्धी के चित्र की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा— "इस युग के महापुरुष हैं गान्धी जी। यह चित्र स्वयं बोलता है कि उनकी महानता और भी उज्ववल एवं प्रकीर्तित रहेंगी।"

स्वामी जी महराज ग्रंथालय में विश्राम ले रहे थे। यहाँ भी भक्त-जन आकर उनके दर्शन करते रहे थे। उनमें कई लोग ऐसे थे, जो स्वामी जी को अपने साथ ले जाकर उनका उपचार और सेवा शुश्रूषा करना चाहते थे। पर, स्वामी जी ने उन्हें आश्वस्त किया। कहा कि "मेडम्" महीने (चैत्र के आसपास) की २३-वीं तिथि के बाद ही हम आयेंगे, दक्खिन की ओर"। [पन्मना के दक्खिन में है कोल्लम, जहाँ के लोगों ने स्वामी जी को अपने साथ ले जाना चाहा था। पर स्वामी जी का आशय 'दक्खिन' के सम्बन्ध में वह नहीं था। दक्खिन, माने कालपुरि, यही उनका आशय था।] उनके लौट जाने के बाद स्वामी जी महराज ने श्री शंकु पिल्लै को अपने पास बुलाया और पूछा "कार्नोरे ! यदि यह बूढ़ा यहाँ पड़ा मर जायगा, तो क्या होगा ?" श्री शंकु पिल्लै का उत्तर यही था-"आपकी कृपा से सब ठीक हो जायेंगे।"

२३ की तारीख आयी। (मलयालम वर्ष १०९९ मेड़ महीने की २३-वीं तिथि) उस दिन ग्रंथालय में असंख्य जन उपस्थित हुए। दूर-दूर के लोग भी आगत हुए। स्वामी जी ने उनसे कुशल-प्रश्न किये। और सब को दो पहर के पहले बिदा कर दिया। दो पहर को एक 'गंजिरा' (एक बाजा जो चमडे से पीठ पर मढ़ा हुआ

है) बाजक आया । स्वामी जी ने उसका वादन सुना और स्वयं उसको बजाया । इसप्रकार थोड़ी देर उपस्थित सब लोगों को मुग्ध कर दिया । उस समय वे अतीव उत्साहित और आनंदित दिखाई देते थे । इस समय, याने शाम को तीन बजे मैं श्री शंकुपिल्लै के साथ आंगन के शामियाने में बैठा था । स्वामी जी के कमरे में कोई और नहीं था । भीतर से कोई शब्द सुनकर मैंने अन्दर जाकर देखा । स्वामी जी ने मुझसे कहा–" पणिकर को बुलाओ । मुझे बैठने दो ।" पणिकर बुलाये गये और हमने स्वामी जी को खाट पर बिठा दिया । खाट पर स्वस्थ बैठे हुए उन्होंने अपने पैरों को पद्मासन में रख लिया । नयनों को ऊर्ध्व कर दिया । और वे धीरे-धीरे बन्द होते गये । श्री शंकुपिल्लै ने आकर समाचार पूछा और हमने उत्तर दिया कि कोई नयी बात नहीं । पर, बाद में हमें मालूम हुआ कि स्वामी जी निश्चेष्ट बैठे हैं, तो हम समझ सके कि हमारे स्वामी जी समाधिस्थ हो चुके हैं ।

वह भौतिक शरीर निस्पन्द हो गया । उसमें विराजमान आत्मा ब्रह्म में विलीन हुई । समाधि की वार्ता सुनकर नाना देशों से लोग आये और अंतिमोपचार करने लगे । अगले दिन मध्याह्न में उनका भौतिक शरीर पूर्व–निश्चित काव् [सेक्रड ग्रोव] में समाधि रूप में ही प्रतिष्ठित हुआ । सारे देश ने एक महात्मा की वियोग-वार्ता अतीव दुःख के साथ ही सुन ली । केरल और बाहर के समाचार–पत्रों ने महर्षि विद्याधि राज महराज को अभिनव शंकराचार्य कहकर उनके महत्वों को प्रकीर्तित किया । केरल के विविध धर्मों के नेताओं ने स्वामी जी को श्रद्धांजलि अर्पित की । स्वामी श्री नारायण गुरु ने अपने गुरुदेव की समाधि–वार्ता सुनकर निम्न लिखित श्लोक लिखे:—

सर्वज्ञ ऋषिरूत्कान्त:
सद्गुरुश्शुकवर्त्मना
आभाति परमव्योम्नि
परिपूर्ण कला निधि:
लीलया कालमधिकं
नीत्वान्ते स महाप्रभु:
निस्वं वपुस्समुत्सृज्य
स्वब्रह्मवपुरास्थितः

स्वामी जी की महासमाधि पर काव्य ग्रंथ लिखे गये । केरल के प्रशस्त कवियों ने अपनी कविताओं द्वारा उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की । महा कवि वल्लत्तोळ् ने लिखा:—

"हे चित्त, मत कर यत्न
तू निरी चींटी का बच्चा
उन दिव्य पुरुष का महात्म्य
एक महा सागर तो रहा ।
उस पुण्योत्तर तीर्थचरण–
स्मरण-मधु को थोड़ा
पान कर ले, कर ले
तृप्त बन, नित्य धन्य बन"

महाकवि उल्लूर ने अपनी काव्यांजलि से यों पूजा की:

अपने परिचित प्रिय जनों को
स्वरूप से, परमचिद्रूप से
दे देकर दर्शन हे उदारमन,
धन्य बना दिया उनको ।
साक्षात् शंकर ! तव चरित
नित–नित प्रति अक्षर
परम पावन होकर चमकेगा ।

महर्षि विद्याधिराज महराज का स्मरण अनश्वर बने, इस उद्देश्य से उनके भक्तों ने श्री शंकु पिल्लै के नेतृत्व में उनकी समधि पर एक सुन्दर मन्दिर बनाया। उसके भीतर उनकी समाधि पर शिवलिंग की प्रतिष्ठा की। इस मन्दिर का नाम है 'श्री बाल भटारक क्षेत्र'। बाहर से आनेवाले प्रशस्त व्यक्ति केरल के इस पुण्य-स्थान का दर्शन कर और मन्दिर में पुष्पार्चना कर स्वयं कृतार्थ बनते हैं। महात्मा गाँधी ने भी यहाँ अर्चना की है। केरल में अनेक जगहों में स्वामी विद्याधिराज महराज के स्मारक बने हैं। यहाँ के जन–जन के हृदय–मन्दिर में स्वामी जी की प्रतिष्ठा हो गयी है।

सिद्धपुरुष स्वामीजी महराज

स्वामी विद्याधिराज महराज अपने द्वितीय शिष्य श्री नीलकण्ठ तीर्थपाद स्वामी के साथ मूवाट्टुपुषा[1] में रहते थे। एक दिन शाम को स्वामी जी सन्ध्यावन्दन करने के लिए नदी के समीप पहुँच गये। नदी के घाट पर सीढ़ियाँ बनी थीं। एक-दो सीढ़ियाँ उतरने पर स्वामी जी के पाँव पर एक कराल सर्प ने डस लिया। ज्योंही सर्प-दंशन हुआ त्योंही स्वामी जी ने अपने पाँव को ज़ोर से हिला दिया। सर्प नदी में जाकर गिर गया। स्वामी जी के साथ जो शिष्य थे वे डर गये। लेकिन स्वामी जी मुस्कराते रहे और शिष्यों से यों कहने लगे—"मुझे विष नहीं व्यापेगा। मैंने अमरी कल्प का सेवन करके उसकी फल–सिद्धि पा ली है। लेकिन, सांप मर गया होगा। देखो वह भयंकर सर्प मर गया है और पानी के ऊपर उलटा पड़ा हुआ है!"

उनके शिष्यों को भी इसमें बड़ा आश्चर्य मालूम नहीं हो रहा था, क्योंकि वे स्वामी जी के साथ रहते हुए ऐसी घटनाएं देखा करते थे।

स्वामी विद्याधिराज महराज तपोनिष्ठ-फल-सिद्ध महापुरुष थे। प्राणायाम खेचरी आदि के अभ्यास और किंपाकफल–कल्प-सेवन से वे अद्भुत शक्ति-संपन्न रहे थे। फिर भी, वे कभी यह प्रकट होने नहीं देते थे कि मैं एक असाधारण साधू हूँ। मर्म–शास्त्र में वे पारंगत थे। पर, इसका प्रयोग भी वे अत्यंत अपेक्षित सन्दर्भों में ही करते थे।

सर्प-दंश उन्हें अनेक बार हुए थे। जिन सर्पों ने उन्हें काटा था वे तुरंत मर गये थे। एक बार स्वामी जी कोल्लम नामक जगह में वेण्मणि एम. के नारायण पिल्लै के साथ रहे थे। रात के समय स्वामी जी अपने शिष्यों के साथ पश्चिम

---

1 परम भट्टारक श्री चट्टम्पि स्वामी महाराज की जीवनी— सम्पादक परवूर के गोपाल पिल्लै, पृष्ठ १४२

कोल्लम वाले एक आश्रम की ओर जा रहे थे। चान्दनी रात थी। स्वामी जी आगे-आगे और शिष्य पीछे-पीछे चल रहे थे। रास्ते में एक घोर सर्प ने स्वामी को काट मारा। शिष्य लोग बिलकुल घबरा गये। काटने के बाद सांप समीपस्थ जगल में छिप गया। शिष्यों ने उसे मारने का निश्चय किया। पर, स्वामी जी शांत एवं निश्चित रहे थे। कहा कि उसे जाने दो वह स्वयं मर गया होगा। फिर वे पहले की तरह शिष्यों के साथ बातें करते हुए, मानों कुछ न चला, आश्रम पहुँच गये। वहाँ पहुँचने के बाद दो शिष्य स्थानीय विष-वैद्य को बुलाने निकले। तब उन्हें रोकते हुए स्वामी जी बोले—"मुझे नींद आती है। खाना नहीं चाहिए। कल इसी समय मुझे जगाना चाहिए।" इतना कहकर उन्होंने दरवाज़ा बंद कर लिया। सारे शिष्य यह सोचते हुए कि अब क्या होगा, बाहर बैठे रहे। वार्ता सुनकर और लोग आ जुटे। सब लोगों ने समझ लिया कि स्वामी जी समाधिस्थ हो गये होंगे। अब उनका जाना मुशिकल है। काटा है कोल्लम वाले सांप ने ! अगले दिन ठीक उसी समय शिष्यों ने दर्वाज़ा खोला। स्वामी जी, मानों नींद से जागकर उठे और बाहर आये। बोले : 'हमे भूख लगी है, व्यवस्था करो।" उन शिष्यों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था।[1]

एक बार स्वामी जी महाराज त्रिवेंद्रम में एक गृहस्थ शिष्य के यहाँ रहे थे। सन्ध्या के बाद पेट्टा नामक जगत में एक धार्मिक सम्मेलन में भाग लेने स्वामी जा रहे थे। साथ दो-चार शिष्य भी थे। बीच में एक स्थान पर सड़क के किनारे वे पेशाब छोड़ने बैठे। वहाँ घास-फूस काफी उगा हुआ रहा था। उठने के पूर्व उन्हें किसी की काट जैसी लगी। वे बिना परवाह किये चलते गये। सम्मेलन स्थान पर पहुँच कर देखा कि अँगूठे से खून निकलता है। उन्होंने पानी मंगाया और पैर साफ किया। उपस्थित लोगों से कहा-"देखो, जहाँ मैं मूत्र-विसर्जन के लिए बैठा था वहाँ कुछ पड़ा हुआ है ?" शिष्यों ने जाकर मशाल के उजाले में देखा कि एक बड़ा साप मरा पड़ा है !

एक बार एक सांप, जो फन फैलाए हुए था, सांपों के वासस्थान के (कॉव) बाहर निकला। लोगों ने देखा और स्वामी जी से कहा। तब, स्वामी जी महराज-ने सांप को अपने पास बुलाया। तब फन झुकाकर वह उनके पास आया। उन्होंने उसे आज्ञा दी कि खाट पर जा लेट। आज्ञा पाकर वह सांप उनकी खाट पर चढ़कर लेट गया। एक-दो घंटे बाद उन्होंने फिर कहा "जाना है, तो जाओ।"

1 गुरुप्रणाम—१९७४. एन. एस. कृष्ण पिल्लै के लेख से

यह अनुज्ञा पाकर वह प्राणी खाट से उतरकर उस बन में., जहाँ से वहाँ आया था, जाकर छिप गया । इस घटना को मैंने और अन्य अनेक लोगों ने देखा था ।[1]

सन् १९१३ की बात है । पश्चिम कोल्लम के कोट्टूर भवन के श्री पद्मनाभ पिल्लै जी ने स्वामी जी को एक दावत पर आमंत्रण भेजा । श्री. रामन मेनन के घर से भोजन करने के बाद स्वामी जी अगले दिन के आतिथ्य के लिए रात के ग्यारह बजे अपने गृहस्थ आराधकों के साथ निकले । दीप लिए हुए एक आदमी आगे–आगे रहा था । उसके पीछे स्वामी जी महाराज और उनके पीछे अन्य सब जा रहे थे । रामेश्वरम नामक मन्दिर के मैदान के लिए एक तंग रास्ते से आगे बढ़े । उसी समय दीपक वाला आदमी डर से चिल्लाते हुए पीछे की ओर हट आया । उसने कांपते हुए कहा 'सांप-साँप' ! मुश्किल से उसका पैर सांप पर पड़ने से बच गया था । पीछे के लोगों ने देखा तो एक बड़ा मोटा सांप फन फैलाये रास्ता रोके पड़ा हुआ था । स्वामी जी महाराज ने दीपकवाले से कहा–"ज़रा पीछे हट आओ । मत डरो ।" इसके बाद स्वामी जी आगे बढ़कर अपना पॉव उस सांप के सिर पर फेरते हुए बोले-"अरे, नटखट ! यदि तू इसी प्रकार इस रास्ते पर पड़ा रहेगा तो कोई तेरा काम तमाम कर देगा । तू बेवकूफ है । यहाँ से हटकर उस पार के वृक्ष के खोखले में जाकर बैठ । किसी को भी डराना मत ।" आश्चर्य, वह उनकी अनुज्ञा पाकर उसी पेड के खोखले में जाकर छिप गया ।[2]

इसप्रकार सर्पों से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का वर्ण करना होगा । सर्प की काट को वे निस्सार मानते थे और वे कहा भी करते थे कि मुझे सर्प का विष नहीं लगेगा ।

अनेक बार स्वामी जी ने घोर सर्पों को उनके क्रूर उद्यम से रोका है । एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है । मलयाट्टूर के नदी तट पर स्वामी जी और करिम्पुविलाकं श्री गोविन्द पिल्लै दोनों खड़े थे । इतने में एक बड़ा फुफ्कार सुनाई पड़ा । दोनों ने मुड़कर देखा तो, एक बृहद्काय मेंढ़क पानी पर कूद पड़ता है । पीछे से एक भयानक सांप फण फैलाये कूदनेवाला है । साथ-वाले लोग डरे हुए मालूम होते थे । तब स्वामी जी महाराज ने सांप से इसप्रकार आज्ञा के स्वर में कहा–"छी ! उसे छूना मत ! जा ।" सांप स्वामी जी के दो कदम आगे

1 कटच्चिक्काट्टु नाणु पिल्लै—गुरुप्रणामं—पृष्ठ—१५६
2 श्री चट्टम्पि स्वामी शताब्दी स्मारक ग्रंथ—एम. के नारायण पिल्लै पृ–१८९

था । स्वामी जी की आज्ञा मानकर वह क्रूर एवं क्रुद्ध सांप स्तंभित रह गया । धीरे से फण झुका लिया और वापस लौट गया ।[1]

स्वामी जी महराज प्राणियों के परम मित्र और उनके स्नेही रहे थे । किसी भी जीव का अहित वे नहीं चाहते थे । प्राणी मात्र के प्रति उनके स्नेह की असंख्य कथाएं प्रचलित हैं । वे कथाएं रोमांचकारी हैं ।

एक बार स्वामी जी महाराज मावेलिक्करा वाले कण्टियूर मंदिर के निकट एक भवन में रहे थे । भवन का नाम था ओट्टप्पुरक्कल और उस भवन के मालिक थे मजिस्ट्रेट आण्टि पिल्लै । स्वामी जी आण्टि पिल्लै के अतिथि थे । एक इतवार के दिन शामको स्वामी जी आण्टि पिल्लै के साथ मंदिर जा रहे थे । रास्ते में उन्होंने देखा कि कुछ लडके एक 'चेरा'[2] पर पत्थर मारते हैं । करुणामय स्वामी जी ने लडकों को रोक दिया और उस प्राणी के पास जा बैठे और बोले-"आ बेटी आ । मत डरना ।" वह उन्हें देखकर निर्भय हो गयी । सिर झुकाकर उनके समीप आयी और उनके बायें हाथ पर जिह्वा से चाटने लगी । फिर उनके हाथ में लिपट गयी और थोड़ी देर चुप रही । स्वामी जी ने उसे एक सुरक्षित स्थान पर छोड़ दिया और लडकों को चेत दिया कि कभी प्राणि-हिंसा नहीं करनी चाहिए । यदि उनसे प्रेम करेंगे तो, वे भी प्रेम करेंगे ।[3] वस्तुतः स्वामी जी महाराज 'पंडिता समदर्शिन:' वाली उक्ति को चरितार्थ करते थे ।

स्वामी जी महाराज की दिव्यता को व्यंजित करने के सिलसिले में श्री. एन. एस. कृष्णपिल्लै, भूतपूर्व एम. एल. ए. एक घटना का उल्लेख करते हैं ।[4] श्री कुम्पलत्तु शंकुपिल्लै के मातुल प्राक्कुलम पद्मनाभ पिल्लै एक गंभीर पुरुष थे । उनको दृष्टि में एक ही सन्यासी समादरणीय रहे थे । वे थे सदानन्दाश्रम के संस्थापक सदानन्द स्वामी जी । वे श्री विद्याधिराज स्वामी महाराज के बारे में सुन तो चुके थे कि स्वामी जी के सम्मुख हिंस्र-जन्तु भी नम्र बनेंगे । तब पद्मनाभ पिल्लै जी ने स्वामी जी की परीक्षा कर लेने का निश्चय किया । एक दिन स्वामी जी रात के

1 करुंपुविलाकं गोविन्द पिल्लै—श्री चट्टम्पि स्वामी शताब्दी स्मारक ग्रंथ पृष्ठ ३९

2 एक नस्ल का सांप, जो अकसर काटता नहीं । अगर काटेगा तो आदमी रक्त दोष से आजीवन पीड़ित रहेगा ।

3--4 श्री एन. एस. कृष्ण पिल्लै— गुरुप्रणाम—पृष्ठ ७९

भोजन के लिए बुलाये गये। भवन था प्राक्कुलम तोट्टुवेली परिवार का। श्री पिल्लै जी के दो भयंकर कुते थे, जो बुलटेरियर वंश के थे। स्वामी जी के आगमन के पूर्व फाटक बंद करके दोनों कुत्तों को भीतर स्वतंत्र छोड़ दिया गया। ये दोनों श्वान इतने क्रूर थे कि वे अपने मालिक के साथ भी विनय नहीं दिखाते थे। स्वामी जी महराज फाटक पर आये और स्वयं उसे खोलकर भीतर प्रवेश करनेवाले थे। इतने में दोनों श्वान गरजते हुए सामने प्रत्यक्ष हो गये और स्वामी जी पर झपटने के लिए उतारू हो गये। स्वामी जी ने फाटक खोल दिया और कुत्तों की परवाह न करके अन्दर प्रवेश कर गये। आश्चर्य! दोनों कुत्ते एकदम नरम पड़ गये और उनके पाँवों पर चाटने लगे। दोनों ने उनकी अगवानी की। फिर क्षण भर के लिए उनसे अलग नहीं हटनेवाले हुए। और आखिर जहाँ स्वामी जी ने आकर आसन ग्रहण कर लिया उनके दोनों तरफ वे भी बैठ गये। जब तक स्वामी जी आतिथ्य स्वीकार कर लौटे थे तब तक दोनों श्वान उनका संरक्षण कार्य करते रहे। इस घटना के बाद स्वामी जी श्री पद्मनाभ पिल्लै जी के लिए संपूज्य बन गये।

श्वानों के साथ मित्रता की ऐसी अनेक कथाएं प्रचलित हैं। स्वामी जी की ऐसी कथाएं बिलकुल प्रासंगिक हैं और उसका परोक्ष सन्देश अत्यंत प्रभावकारी भी है।

स्वामी जी त्रिवेंद्रम की चेंकल्लूर नामक जगह में कुमार पिल्लै नामक एक सात्विक पुरुष के यहाँ रहते थे। शाम को टहलते हुए बहुत देर तक निवास पर आया करते थे। एक दिन वे लौट आये, तो गृह-स्वामी ने उन्हें भोजन के लिए बुलाया। स्वामी जी महाराज अपने साथ दो अतिथियों को भी लाये थे। गृह-स्वामी की अनुज्ञा से उन्हें भी स्वामी जी भोजन के स्थान पर लाये। वे मनुष्य नहीं थे, दो बलिष्ठ श्वान थे। रास्ते के श्मशान से वे निकल आये थे और स्वामी जी का अनुगमन किया था। ये दोनों बड़े ही भयंकर और क्रूर थे। ये श्मशान में कच्चे शवों को उखाडकर खाते थे। राह चलनेवाले लोगों को भी वे अनवसर पर पाकर छोड़ नहीं देते थे। स्वामी जी पर झपटने लगे थे कि स्वामी जी ने उन्हें वशवर्ती बना लिया और साथ ले आये थे। यहाँ स्वामी जी ने उन्हें अपने पास बिठाकर भोजन दिलाया और वे उनकी अनुमति पाकर लौट पड़े।[1]

त्रिवेंद्रम के तम्पानूर के समीपवाले कल्लुवीट्टिल भवन में स्वामी जी महाराज बीच-बीच में अतिथि बने रहते थे। गृह-स्वामी डाक्टर वेलप्पन पिल्लै

---

1 श्री. एम. पी. रामन नायर–गुरुप्रणामं–पृष्ठ ८८

स्वामी जी के गृहस्थ शिष्य थे। जब कभी स्वामी जी महराज वहाँ रहते थे उनके साथ बहुत से श्वान भी आकर भोजन करते थे। एक दिन शाम को स्वामी जी ने गृह–स्वामी से कहा कि आज रात को आठ बजे मेरे साथ तीस–चालीस जन आयेंगे। उन्हें एक अच्छी दावत देनी चाहिए। घर के मालिक ने स्वामी जी की आज्ञा को ध्यान से सुना और आज्ञापूर्ति करने का वचन दिया। समय बिलकुल कम था, चालीस लोगों को अच्छी दावत देनी है! जल्दी–जल्दी सारा प्रबंध किया गया। स्वामी जी के साथ आमंत्रित लाग हैं, अतः उनका भोजन अत्यंत भव्य होना चाहिए। निश्चित समय तक भोजन तैयार हुआ और स्वामी जी की प्रतीक्षा में रहे। ठीक आठ बजे रात को स्वामी जा महराज अकेले घर पर प्रत्यक्ष हुए। गृह-नाथ से पूछा—

"क्या सारा प्रबंध हो गया? भोजन तैयार हो गया न?"

"हाँ, स्वामी जी, भोजन तैयार हो गया। पत्तल डालना शेष है।"

"तब मैं अतिथियों को बुला लाऊँगा।"

"जी हाँ, बुला लाइयेगा।"

स्वामी जी फाटक तक जाकर फिर लौट आये। क्या देखते हैं! उनके मित्र अतिथि कौन–कौन हैं? चालीस कुत्ते! एक के बाद एक करके बढ़ते आ रहे हैं। गृह नाथ को बड़ी खीझ मालूम हुई। साथ ही साथ मन में अद्भुत परिहास भी अनुभूत हुआ। श्वान सब स्वामी जी के आज्ञाकारी जैसे हैं। स्वामी जी ने आज्ञा दी कि पत्तल डाल दें और उचित रीति से भोजन परोसें। सारे अतिथि भोजन करने पतलों के सामने बैठ गये। जब भोजन भरोसा गया तब अथिति लोग बड़े ही संयम एवं भव्य भाव से भोजन करने लगे, मानों चालीस साधू-संत बड़े ही भव्य भाव से भोजन करते हैं। वे भोजन कर चुके। तब स्वामी जी ने उनसे कहा–

"मैंने तुम्हें उचित सत्कार दिलाया। यहाँ तुम्हारा जूठा पत्तल उठानेवाला कोई नहीं है। इसलिए अपना–अपना पत्तल उठाकर बाहर दूर फेंक दो और यहाँ लौट आओ।" श्वानों ने जैसी आज्ञा पायी वैसा उसका सही पालन किया और यथास्थान पर दुबारा आकर बैठ गये। इसके बाद स्वामी महाराज ने आतिथेय पुरुष से इसप्रकार कहा:—

"इनको आप अब श्वानों के रूप में देखते हैं। लेकिन ये पूर्व जन्म में कैसे थे कौन थे, इसका आपको क्या पता ? ये सब अपने पूर्व जन्म में 'ट्रावन्कोर' के अफ़सर थे। अपनी अफ़सरी के दिनों में इन्होंने बहुत से अनुचित काम किये थे। इसलिए ये अब कुत्तों का जन्म पा गये हैं। साधारण कुत्ते नहीं, बल्कि बाज़ार के कुत्ते। क्या मजाक है। मैंने इन पूर्व-जन्म के अफसरों को आपके अतिथि बना दिया। अक्सर पश्चिमी सभ्यता के अनुसार दावत के पश्चात् अतिथियों की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन का भाषण होता है, सो मैं कर रहा हूँ। मैं अपने मित्र समेत आपको हार्दिक वन्दन अर्पित करता हूँ।" इतना कहकर स्वामी जी महाराज श्वान-मित्रों के साथ वहाँ से रुखसत हुए। यह घटना उस घर में पहली थी, पर इसके पश्चात् वहाँ ऐसी अनेक घटनाएं हुई हैं।

इसके बाद की एक घटना की ओर भी प्रकाश डाला जा रहा है। श्री. एन. एस. कृष्ण पिल्लै, पूर्वभूत एम. एल. ए. ने अपनी आँखों देखी घटना को लेख के रूप में प्रकाशित किया है। उसका चित्रण यथातथ रूप में यहाँ दिया जा रहा है:

"मैंने केवल एक बार उस महान् पुरुष का दर्शन किया है। स्वामी जी कल्लुवीटु भवन में रहते थे। उस घर के मालिक डा०. वेलप्पन पिल्लै मेरे दोस्त थे। वे बड़े बातूनी और परिहासप्रिय थे। वे कहा करते थे कि स्वामी कभी-कभी कुत्तों के साथ आया करते हैं और मेरी बहिन उनको भोजन दिया करती है। स्वामी जी उन कुत्तों से बातें करते हैं और हमें बडा मजा आता है, आदि। इन बातों पर कौन विश्वास करेगा ? मैंने उनसे कहा, 'भाई मुझे ऐसी बातों पर विश्वास ही नहीं है। एक बात करो, अब जब कभी स्वामी जी कुत्तों को बुलाकर आयेंगे, जरा हमें भी दिखा देना।"

एक दिन आधी रात के समय वेलप्पन पिल्लै मेरे घर पहुँचे। दौड़ते-दौड़ते बेचारे हाँफ रहे थे। हमें नींद से जगाकर कहा:

"देखो, स्वामी जी आये हैं। साथ कुत्ते भी हैं। जल्दी आ जाओ।" एकदम हम कल्लुवीटु भवन में पहुँचे। देखा, चालीस-पचास कुत्ते ! कई वर्ग के छोटे-बड़े वे कुत्ते खामोश खड़े हैं ! देखकर हम अचम्भे में आ गये। भीतर जाकर स्वामी जी को प्रणाम दिया। सोचा था कि क्षीर-सागर-कल्लोल की तरह लम्बी दाढ़ी, सुन्दर काषायवस्त्र पहने गंभीर सन्यासी होंगे। पर देखा क्या ? एक ही सफेद कपड़ा पहने हुए हैं। उसका छोर कंधे पर डाले हुए हैं। गले में रुद्राक्ष माला पड़ी है। दाढ़ी सुन्दर बनी है और मुँह अत्यंत शोभायमान है !

हमें बुलाकर सामने बिठाया और शुद्ध ग्रामीण भाषा में बोलने लगे। मैंने[1] डरते-डरते कह पाया–"स्वामी जी, बाहर कुछ कुत्ते.... !" मेरी बात पूरी होने नहीं दी, वे बोले– "बेचारे मेरे रास्ते में मिले। भूखे हैं। चावल देने की सूचना दी। वे पीछे-पीछे आये हैं। उनका चावल पक गया होगा।"

घरवाली अम्मिणी (वेलप्पन पिल्लै की बहिन) बाहर खड़े-खड़े बोली– "भोजन हो गया है, स्वामी जी।" आठ-दस बड़े पत्तल लाये गये। एक साथ उन्हें फैलाकर उनमें भात डाला गया। जब भात थोड़ा ठंडा हो गया, तो स्वामी जी कुत्तों के पास जाकर बोले: "आओ, खाकर जाओ।" सब भीतर आये। कुत्ते पत्तल के चारों तरफ खड़े होकर खाने लगे। कुत्ते तो कुत्ते हैं, जो अपना सहज स्वभाव कैसे भूल जायेंगे? एक कुत्ता मुरमुराने लगा। तुरंत स्वामी जी बोल उठे: "देखो, बुलाकर कुछ दिया, तो लगा मुरमुराने ! खाकर जाना।" आश्चर्य, वह खामोश बन गया। और सब से बड़ा आश्चर्य इसमें था कि खा चुकने के बाद स्वामी जी को देखते हुए चुप खड़े हैं !! उनका आज्ञा पाकर ही जाना तो है। स्वामी जी महराज बोले–"अब जाओ। झगड़ा मत करना।" सारे कुत्ते चुपचाप कृतज्ञता-भरी आँखों से स्वामी जी को देखते हुए एक के पीछे एक करके बाहर निकल गये।

कैसा अद्भुत दृश्य था ! प्रत्यक्ष में देखे बिना कैसे विश्वास किया जा सकता है ? हमने उस महान् पुरुष के शांत एवं गंभीर मुख की ओर देखा और प्रणाम करके लौट चले। आज भी वह अविस्मरणीय दृश्य आँखों के सामने से हटाये नहीं हटता।

स्वामी श्री विद्याप्रसाद अपनी आँखों से देखी एक घटना का वर्णन यों करते हैं—

"तिरुवनन्तपुरम में तैक्काट्टु पुळियटि विळाकं नामक एक गरीब परिवार में स्वामी जी महराज अतिथि बनकर जाया करते थे। उस परिवार का नायक था संगीत विद्वान पद्मनाभन वैद्य। संगीत कला के माध्यम से उन दोनों में मैत्री रही थी। स्वामी जी एक बार वहाँ आये और उनके साथ पर्छाई की तरह एक गरीब भक्त भी था। इन दोनों के पीछे-पीछे कुछ कुत्ते भी आ रहे थे। स्वामी जी

1 एन. पी. रामन नायर–गुरुप्रणामम-पृ० ८८

और भक्त दोनों उचित आसनों पर बैठे। उसी समय कुत्ते भी स्वामी जी महराज के सामने आकर खड़े हो गये। स्वामी जी ने उन्हें आज्ञा दी कि तुम दोनों वहाँ बैठो। आज्ञा पाकर स्वामी जी के सामने आगे के दोनों पैरों को बढ़ाये बैठ गये। उनका व्यवहार अत्यंत सौम्य और आज्ञाकारी जैसा था। यह देखकर श्री पद्मनाभन वैद्य, मैं, और उपस्थित लोग अचंभे में आये। इन प्राणियों में यह सौम्यता और संयम कहाँ से आया, यही अद्भुत का कारण था। वैद्य की कुतूहलता को दूर करते हुए स्वामी जी बोले—"मैं इधर को आ रहा था। रास्ते में ये दोनों कुत्ते भूंकते हुए सामने आये। मैंने कहा, झगड़ा मत करो, मेरे साथ आओ। सुनकर मेरे पीछे से आये हैं। सुनो, वैद्य जी, हम सब कर्मकाण्डी हैं न ? हम अपने प्रारब्ध को भोगने आये हैं और ये भी अपने कर्म का फल भोगते हैं ! ये यहाँ तक मेरे साथ आये ! इसलिए खाने को कुछ देना चाहिए।" इतना कहकर स्वामी जी महराज ने कुत्तों से पूछा—"क्या कहते हो ? कुछ खाकर जाओगे न ?" कुत्तों ने पूंछ हिला दी। वैद्य ने पास की दूकान से कुछ (पकवान) 'अप्पम' मंगाये और स्वामी जी के सामने रखवा दिये। स्वामी जी महराज ने दोनों को 'अप्पम' दे दिये और श्वानों ने खा लिया और स्वामी जी की अनुमति लेकर वापस गये।[1]

सांप अथवा कुत्ते ही क्या, सारे प्राणियों पर उन्हें असीम प्रेम था। चींटियों और चूहों से भी वे बोलते थे। उनकी भाषा वे जानते थे। जहाँ-जहाँ स्वामी जी महराज रहते वहाँ-वहाँ चींटियों को कुछ-न-कुछ देते हुए दीखते थे। बड़े-बड़े जंगली चींटे उनके पास आते और वे उनसे कुछ खाना पाकर लौट जाते। ऐसा दृश्य अनेकों गृहस्थों को देखने का अवसर मिलता था।

स्वामी जी महराज पन्मना में जब रहते थे तब एक बार वे पलंग पर बैठे थे। उनके समीप अनेक सन्दर्शक भी थे। कटच्चिक्काट्ट नाणुपिल्लै भी थे। जहाँ वे रहते थे वहाँ एक छोटा सा कॉव (Sacred grove) था और बहुत से चींटे उस जंगल में थे। स्वामीजी के समीप खड़े हुए लोगों के पास चींटे आकर घिर गये। स्वामीजी ने यह देखा। वे लोग वहाँ से हट कर दूर खड़े हो गये। स्वामीजी ने कहा "क्यों, उन्हें तंग कर रहे हो ? इधर आओ" यह सुनकर वे चींटे उनके समीप आ गये। लगभग दस-बारह वर्गफुट की विस्तृति में वे काले-मोटे चींटे आकर फैल गये ! स्वामीजी ने कुछ छोटे-चावल मंगाकर उन्हें दिये। फिर

---

1 स्वामी श्री विद्याप्रसाद-श्री चट्टम्पि स्वामी स्मारक-ग्रंथ पृ० ८७-८८

कहा— "अब लौट चलो"। अनुज्ञा पाकर वे चावल उठाकर वापस चले गये।

स्वामीजी कभी-कभी चींटियों को अपने पास बुलाते थे और वे चींटियाँ उनके पैरों पर घुटने तक आकर बैठतीं। थोड़ी देर बैठने के बाद वे स्वामीजी की अनुमति पाकर उतर जातीं। इसप्रकार, स्वामीजी कभी-कभी करने देते और लोग यह देखकर मंत्र-मुग्ध खड़े रह जाते थे। मजिस्ट्रेट आण्टि पिल्लै के घर में रहते हुए स्वामीजी ने ऐसी एक घटना से सब को आश्चर्यान्वित कर दिया था। एक दिन ज़ोर से पानी बरस रहा था। बराबदे के एक खम्भे के नीचे कुछ चींटियाँ जमी रही थीं। नौकर झाड़ू दे रहा था। उसने उन्हें वहाँ से झाड़ू देकर नीचे गिरा दिया। स्वामीजी ने यह देखा तो नौकर को रोक दिया। उन्होंने चावल की बुकनी मंगायी और उसे बरामदे में बिछा दिया। नीचे पडी हुई चींटियों को ऊपर आने का आदेश दिया। स्वामीजी की आज्ञा पाकर चींटियाँ ऊपर चढ़ आयीं। स्वामी जी ने अपना दाहिना पैर बढ़ा दिया और उसपर बैठने का निर्देश दिया। सब चींटियाँ उनके पैर पर जमकर बैठ गयीं। थोड़ी देर बाद वे उनकी अनुज्ञा पाकर पैर से उतरीं और चावल की बुकनी लेकर चली गयीं।

श्री विद्याधिराज स्वामी महराज के लिए उपर्युक्त घटनायें श्रमकर अथवा महत्वपूर्ण नहीं थीं। ये सब सहज एवं स्वाभाविक जैसी घटती थीं। मेंढ़कों और चूहों को भी बड़े प्यार से अपने पास बुला लेते और स्वामीजी के निकट वे निर्भय विचरते थे। उनकी चारपाई पर मेंढ़क बेरोक-टोक कूदकर चलते थे। और वे कहा करते थे कि इन बचारों को खानेवाले भयंकर जीव बाहर ताक में बैठे हैं। उनसे बच पाने के लिए ये मेरे पास आये हुए हैं।

स्वामीजी महराज जब कोल्लम के कोट्टूर भवन में रहा करते थे उन दिनों अनेकों लोग स्वामीजी का चींटियों और मेंढ़कों के प्रति सहानुभूतिमय ममत्व भाव देखकर आश्चर्य विमूढ़ हो जाते थे।

किसी-किसी की शिकायतों पर स्वामीजी महराज अपराधी चूहों को अपने पास बुला लाते और उन्हें निर्देश देते कि आगे कोई शरारत न करें। एक-दो घटनाओं का उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। एक बार स्वामीजी अपने एक गृहस्थ भक्त के यहाँ रहे थे। बहुत दिनों के बाद वे वहाँ आये हुए थे। गृहस्थ पुरुष और उसकी पत्नी दोनों ने स्वामीजी महराज का यथोचित स्वागत-सत्कार किया। बातचीत के सिलसिले में घर के स्वामीजी ने एक शिकायत की कि उनके कौपीन,

जो सुखाने के लिए छोड़े जाते हैं नहीं मिलते । स्वामीजी मुस्कुराये और बोले– "तेरे कौपीन लेनेवाला कौन होता है; तेरी स्त्री लेती होगी ।"कहकर वे हँस पड़े । स्त्री ने कसम खाकर कहा कि उसने नहीं लिया है । तब स्वामीजी ने स्त्री से कहा कि एक बरतन में कुछ पानी लावे । एक चौड़े बर्तन में पानी लाया गया । एक बेंत से पानी को हिलाया । फिर स्वामीजी इसप्रकार बोले :

"जिसने कौपीन चुरा लिया वह अपने परिवार के साथ यहाँ आ उपस्थित हो जावे ।" तीन बार स्वामीजी ने इसप्रकार दुहराया । तब 'की–की' शब्द प्रकट करते हुए कुछ चूहे वहाँ आ पहुँचे । स्वामी जी ने हुकम दिया — 'जिसने कौपीन चुराया वह इस पानी में डूबकर कसम खाकर बाहर आवे ।" चूहे एक–एक करके पानी में उतरे और बरतन के किनारे पर आकर बैठे । पर एक चूहा बरतन के चारों ओर बाहर घूमता फिरा और पानी में डूबना नहीं चाहता था । स्वामी जी ने उससे कहा — "तूने कौपीन चुरा लिया है । जाकर उसे ले आ ।"

वह चूहा वहाँ से अप्रत्यक्ष हो गया और थोड़ी ही देर में गोलाकार बनाये उन कौपीनों को खींचकर लाया । स्वामी जी ने उससे कहा — "पानी में कूद पड़ो । खसम खाओ कि आगे ऐसी गुस्ताखी नहीं करेगा ।" वह पानी में कूद पड़ा और स्वामी जी को देखता रहा । स्वामी जी ने उन चूहों को सेर भर चावल खिलाया और सब ने उछल-कूदकर पेटभर खाया और चले गये !

वस्तुत : इस प्रकार की घटनायें अद्‍भुत हैं । लोग इन्हें सुनने मात्र से कैसे सच मान लेंगे ? चूहों की कथाएं और भी कही जाती हैं । मावेलिक्करा मजिस्ट्रेट आण्टि पिल्लै की शिकायत थी कि उनकी एक नयी शाल थी, जिसे चूहे ने काटकर बिगाड़ दिया । स्वामीजी महराज ने उसका समाधान यों कर दिया । उन्होंने ऊपर की ओर देखते हुए बुलाया "बच्चो जल्दी आ जाओ" बहुत से चूहे ऊपर छत से निकल आये ! जब उन्होंने उनसे पूछा कि शाल को किसने बिगाड़ दिया तब एक छोटे चूहे ने शब्द प्रकट करके उस अपराध को स्वीकार किया । स्वामीजी ने तुरंत ही उन्हें मीठे फल मंगाकर दिये और कहा कि आगे ऐसी करतूत मत करें । इस घटना को देखे हुए अनेक व्यक्ति मावेलीक्करा में अब भी जिन्दा हैं ।

स्वामी श्री विद्या प्रसाद अपनी आँखों देखी घटना का वर्णन करते हैं :

एक दिन स्वामीजी पद्‍मनाभन वैद्य के यहाँ आये । उनके साथ वह भक्त भी था, जो पहले वहाँ उनके साथ आया था । स्वामीजी और अनुचर को यथा योग्य

आतिथ्य दिया गया । बाद में कुशलादि होने लगे । उस दिन स्वामीजी ने भक्ति-रस–प्रधान एक-दो कीर्तनों का आलापन किया । वैद्य पद्मनाभन जी ने उन्हीं कीर्तनों का अपनी वीणा और फिड़िल में आलापन किया । दोनों गायक खूब मज़ा उठा सके । अपने साथ जो भक्त आये हुए थे उनसे स्वामी जी ने कहा कि 'नारायण'[1] तुम वीणा-वादन का अभ्यास करो । इस बीच वैद्य ने स्वामी जी के सामने मज़ाक के रूप में एक शिकायत पेश कर दी । उन्होंने कहा "स्वामी जी महराज ! क्षमा कीजियेगा, मुझे जीवन इतना भार रूप हो गया है । शत्रुओं का प्रताप है, घर में! यह देखिए, नया कमीज लाया था । पर, इसे इधर-उधर काटकर फाड़ दिया है! स्वामी जी महराज इसका समाधान करा दीजियेगा । "स्वामी जी ने कमीज उनके हाथ से लेकर सामने रखा और कहा — "देखो वैद्य जी, हम सब कर्म-काण्डी हैं । अपने-अपने कर्मों को पूरा करना है । यह हम सब प्राणियों का धर्म है । प्राणियों में जो उदार व्यक्तित्व रखता है वह ऐसा कर्म करता है जिससे दूसरों के स्नेह और आदर प्राप्त करता है । जो खोटे हैं उनके काम दूसरों के लिए हानिकारक रहते हैं और दूसरों से निन्दा-अनादर पा जाते हैं । अच्छा, अब तुम ऐसा करो । मुट्ठी भर चावल और एक पतली छड़ी लाओ ।" स्वामीजी के निर्देशित चीजें लायी गयीं । धान कमीज के ऊपर रखे और छड़ी हाथ में ले ली और थोड़ी देर मौन-ध्यान में निमग्न बैठे । उनके साथवाले भक्त भी ध्यान-मग्न बैठे । इतने में सात चूहे एक-एक करके उनके सामने आये और पैरों पर खड़े हो गये । उनके हाथ अंजली बद्ध थे । स्वामी जी ने मुस्कुराते हुए पूछा— "तुम में कौन है वह, जिसने वैद्य जी का कमीज, काट दिया ? वह अलग हटकर रहे ।" यह सुनकर एक चूहा कांपते हुए स्वामीजी के सामने आ बैठा ।" भविष्य में ऐसी शरारत मत करना" यह कहते हुए छड़ी के अग्र से उसकी पीठ पर छू लिया । चूहे का कंपन दूर हो गया । "अब चावल लेकर जाओ ।" सब चावल लेकर लौट गये ![2] यह दृश्य मैंने अपनी आँखों देखा है ।

स्वामी जी कभी अपनी सिद्धि के बारे में किसी से कुछ कहा नहीं करते थे । वे अपनी सिद्धियों को पूर्वापेक्षा के बिना ही प्रकट किया करते थे । वे नहीं चाहते थे कि कोई चमत्कार प्रकट करूँ । पर, जब सन्दर्भ के अनुसार कुछ अत्यंत ज़रूरी कारण

1 नारायण नामक वह भक्त श्री नारायणगुरु स्वामी जी थे, जो बाद में केरल के श्रेष्ठ संत बने ।

2 स्वामी श्री विद्या प्रसाद—श्री चट्टम्पि स्वामी स्मारक–ग्रंथ—पृ. ८८, ८९

हो जाता था, तभी वे सहज रूप से अपनी योग्यता को प्रकट करते थे। उनके चमत्कारों में कुछ अतीव गौरव पूर्ण भी हैं। लेकिन ऐसे चमत्कारों को करते हुए भी उन्हें विशेष रूप की कठिनाई अनुभूत नहीं होती। ये सिद्धियाँ श्रेष्ठ सिद्ध-पुरुषों द्वारा प्रकट होनेवाली हैं। जहाँ-जहाँ उन्होंने उन्हें प्रकट किया वहाँ-वहाँ के दर्शकों द्वारा ही इनका प्रचार हुआ है। केरल में ऐसे बहुत से लोग आज भी जीवित हैं जिन्होंने श्री विद्याधिराज स्वामी महराज की अद्भुत सिद्धियों को अपनी ही आँखों देखा है।

पिछले दिन इस लेखक को स्वामीजी महराज के बारे में कुछ गुण कथन सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मैं, केरल के महापड़ित एवं साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों के भीष्माचार्य सदृश्य प्रसिद्ध वयोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध श्री शूरनाटु कुञ्जन पिल्लै जी के साथ एक सम्मेलन में भाषण देने जा रहा था। श्री कुञ्जन पिल्लै जी की अध्यक्षता में सम्मेलन था। लम्बी यात्रा के बीच में कई विषयों पर हम बोलते रहे थे। सन्दर्भवश भगवान् चट्टम्पि स्वामी जी के बारे में भी परामर्श आया। तब श्री कुञ्जन पिल्लै जी ने एक घटना का वर्णन किया। स्वामी जी महराज कुम्पलत्तु शंकुपिल्लै के साथ रहा करते थे। अंतिम समय में उन्हीं के यहाँ एक आश्रम बनाकर समाधिस्थ तो हुए थे। यह घटना कुछ पहले की है। उन दिनों स्वामी जी 'चवरा' नामक जगह में रहते थे। वे रात में एक 'एरुमाटम'[1] में सोया करते थे। एक–दिन उसे पुरानी जगह से उठाकर एक नयी जगह पर रखना था। उस समय वहाँ तीन ही जन मौजूद थे। एक स्वामी जी महराज और दूसरा श्री कुम्पलत्तु शंकुपिल्लै और तीसरा वल्लाटन नाम से सुख्यात पहलवान। श्री शंकुपिल्लै उन दिनों वल्लाटन के अधीन कुश्ती का अभ्यास कर रहे थे। बड़े ही मस्त पुरुष थे। और वल्लाटन सारे भारत में प्रशस्त था। दोनों ने माना कि 'एरुमाटम' को वे दोनों ही उठाकर यथास्थान रख लेंगे। दोनों ने दो तरफ खड़े होकर उठाने की चेष्टा की, पर वह नहीं उठता था। दस–बारह लोगों के बिना अक्सर वह उठ नहीं सकता था। जब दोनों अपने यत्न में असफल हो गये, तो स्वामी जी बोले कि मैं भी एक हाथ लगा दूंगा। देखें उठता है कि नहीं। तुम दोनों एक तरफ रहो और मैं दूसरी तरफ रहूँगा। दोनों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि स्वामी जी क्या सहारा दे सकते हैं। जब स्वयं सशक्त पहलवान् उठा नहीं

---

1 एरुमाटम वह छोटा सा कमरा है, जो लकड़ी से बनता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर रखा जा सकता है।

पाते वहाँ वृद्ध स्वामी जी क्या करेंगे ? पर, आश्चर्य, स्वामी जी ने अपना हिसा आसानी से ऊपर उठाया और दूसरा हिसा मुश्किल से दोनों के कठोर बल से उठा पाया ! ![1]

स्वामीजी का शारीरिक बल उतना ही बढ़ा हुआ रहा था जितना उनका आत्मबल। विशेषकर योग-बल से उनका शरीर वज्र जैसा कठोर रहा था। स्वामीजी महराज को ऐसे संदर्भों का सामना करना पड़ता था जब कि शराबी दममस्त गुण्डे उनपर विफल आक्रमण कर दिया करते थे। दो-तीन घटनाओं के स्वामीजी के शिष्य साक्षी हैं।

एक दिन स्वामी जी महराज कलूर नामक गाँव से अपने दो अनुचरों के साथ आलुवें जा रहे थे। इटप्पल्ली वाले पल्लिमुट्टम के निकट पहुँचे, तो कुछ गुण्डों ने स्वामी जी का रास्ता रोक दिया। वे खूब पिये हुए थे। उन्मत्त होकर स्वामी जी के विरुद्ध बोलने और गालियाँ देने लगे। स्वामीजी महराज निर्भीक थे। उन्होंने अनुचरों से कहा "मेरा वस्त्र पीछे से पकड़े रहो।" फिर वे हाथ की छड़ी आड़ी पकड़कर बढ़ते चले गये। सामने और दोनों तरफ जितने गुण्डे खड़े थे वे सब छड़ी के जोर से गिर गये और वहीं पड़े रहे। जो गिरे सो गिरे ही रहे।[2] कोई भी उन्हें वहाँ से हटा नहीं सकता था। दूसरे दिन जब स्वामीजी उसी रास्ते से लौटे तो लोगों ने याचना की कि उनपर दया करें। तब स्वामो जी ने अपनी छड़ी से उलटा मारा और उन्हें वहाँ से उठने दिया। सब स्वामीजी महराज के पैरों गिर पड़े। और स्वामीजी ने उन्हें आज्ञा दी कि आगे राहचलनेवाले लोगों पर आक्रमण न करें।

दूसरी घटना का वर्णन श्री करुवा कृष्णनाशान करते हैं: कोल्लमवाले ओलयिल नामक जगह में कुछ नायर युवक कुश्ती का अभ्यास करते थे। एक दिन ये मल्ल युवक रास्ते के किनारे बैठकर वीर–साहस की बातें कर रहे थे। स्वामी जी को देखकर उनके मन में मजा आया कि उनका परिहास करें। वे आकर स्वामी जी का रास्ता रोके रहे। स्वामी जी ने देखा कि इनके बीच से चमत्कार दिखाये बिना निकल जाना मुश्किल है। स्वामी जी ने अपने कंधों से बायें-दायें धक्केल दिया

---

1 श्री शूरनाटु कुञ्जन पिल्लै
2 चट्टम्पि सवामिकल—श्री. के भास्कर पिल्लै पृ १५३

और ये पहलवान् युवक धराशायी हो गये। वे निश्चेष्ट पड़े रहे। एक दो जो बचे थे उन्होंने उनके पैर पकड़े। स्वामीजी ने सब को पैरों से छू लिया और सब चेत गये और उठे। फिर उनसे संयम-पालन का उपदेश-सुनकर वहाँ से हट गये।[1]

कोल्लम में रहते हुए एक दिन स्वामी जी महाराज ने कुछ शराबी गुण्डों का सामना किया था। इस घटना का वर्णन स्वामी जी के एक गृहस्थ शिष्य श्री एम. के. नारायण पिल्लै जी करते हैं कि स्वामी जी महाराज रामेश्वरम क्षेत्र के समीप श्री रामन मेनन के साथ रहते थे। यह सन् १९१३ के आस-पास का समय था। स्वामीजी की अवस्था साठ से ज्यादा हो गयी थी। वे दिन के समय बहुत कम ही बाहर निकलते थे। कभी-कभी शामको जिलाधीश श्री नारायण मेनन के यहाँ जाते थे और कभी-कभी तहसीलदार श्री रामन तम्पी के घर। अपने साथ मुझे भी ले जाते थे। (श्री. एम. पी. नारायणपिल्लै को) बात-चीत करके करीब आधी रात तक लौटते थे। रात के करीब बारह बजे हम लौट रहे थे। स्वामीजी महाराज आगे-आगे चल रहे थे और मैं पीछे-पीछे। कोल्लमवाले अंग्रेज़ी हाइस्कूल के सामने से हम थोड़े दक्खिन के मोड़ पर पहुँच गये। तब पाँच-सात जन शराब में सराबोर होकर अर्द्ध-बोधावस्था में गालियाँ बकते हुए सामने आये। चांदनी रात थी, स्वामीजी मुझसे बोले,– "देखो, चंकुअण्णम्मार[2] आते हैं। हमारा काम तमाम कर देंगे। तुम तो दुबले-पतले हो। उस चहार दीवारी से सटकर रहो। मेरी बात तो अलग है। लोग मुझे चट्टम्पि ही समझ रखते हैं। देखूँगा, क्या होगा।"— स्वामीजी हँसी-दिल्लगी में इसप्रकार बोले थे। मैं उनकी अद्भुत लीला से परिचित तो था। इसलिए स्वयं छिप जाने के बजाय उनके पीछे ही चला। हम चलते गये। मद्यप लोग बड़ी धृष्टता के साथ हमारे सामने आ गये। उनसे स्वामीजी बोले: "आज चंकु अण्णन पूरे ज़ोर पर है। अच्छा, चले।" वाह स्वामीजी महराज बस इतना ही बोले कि सारे मद्यप लोग सड़क पर ऐसे गिर पड़े, मानों पेड़ कटकर गिर पड़े हों। सब बेसुध हैं, निस्पन्द! इसके पश्चात् स्वामी जी ने दाहिने पाँव से सब को एक-एक करके स्पर्श कर जगाया। फिर बोले: "लोग दोनों तरफ के घरों में सो रहे हैं। उन्हें तंग मत करना। चुपचाप अपने-अपने घर चले जाओ।" सब ने स्वामीजी महराज की आज्ञा मान ली और सीधे चले गये।[3]

---

1 वही
2 स्वामीजी मद्य को चंकु अण्णन पुकारते थे।
3 वेण्मणि श्री. एम. के. नारायणपिल्लै-- श्री चट्टम्पिस्वामी शताब्दी स्मारक–ग्रंथ—पृष्ठ १८९

श्री परवूर पय्यंपल्लि करुणाकरन पिल्लै स्वयं अपनी अनुभव कथा सुना देते हैं— "जब कभी स्वामी जी महराज परवूर आगत होते थे तब वे मेरे घर में ठहरते थे। मेरे घर के फाटकवाले बरामदे में बैठा करते थे। करीब सन् १८९५ के आसपास की बात है। मेरी एक घड़ी थी, जो बम्बई से लायी गयी थी। उन दिनों हमारे देश में घड़ी अतीव दुर्लभ था, इसलिए वह एक कौतुक वस्तु थी। मैं उसे दिन के समय फाटक वाले बरामदे में रखता था और रात म घर में लाकर सुरक्षित रखता था। एक दिन स्वामी जी फाटक वाले बरामदे में रहते थे। रात के समय रोज़ की तरह मैंने घड़ी को घर के भीतर ले आना चाहा। स्वामी जी खुले बरामदे में सोते थे। सोचा, कोई चोर घड़ी चुरा न ले जाय। स्वामी जी बोले कि जब तक मैं यहाँ रहता हूँ तब तक चोर यहाँ से कोई चीज़ नहीं ले जायगा। मैंने घड़ी वहीं छोड़ दी और सोने के लिए चला। सो जाने के पहले मन में लगा कि घड़ी वहाँ से उठा लाऊंगा और इसप्रकार स्वामी जी की परीक्षा करूँगा। मैं प्रभात के बहुत देर पहले उठा और घड़ी के पास गया। मैंने घड़ी पर हाथ रखा! अद्भुत! मुझे लगा कि मेरे हाथ ने बिजली का स्पर्श किया! मैं विवश पड़ गया। न मैं अपने हाथ को घड़ी से अलग कर सका और न वहाँ से हट जा सका। ठीक उसी समय स्वामी जी निद्रा छोड़कर उठ बैठे और सब से पहले मुझ बेचारे को देखा। स्वामी जी महराज बोले: "परीक्षा नहीं लेनी चाहिए थी। अब घड़ी छोड़ो।" मैं घड़ी से मुक्त हो गया। और स्वामी जी से क्षमा-याचना की।[1]

स्वामी जी महराज की अद्भुत लीलाएं असंख्य हैं। वे मूर्ख लोगों को ही अपनी आज्ञा के अधीन नहीं लाते थे, बल्कि खूंख्वार पशुओं पर भी अपना प्रभाव प्रकट करते थे। आपने कई बार बाघों का सामना किया है। कभी-कभी उन्हें हिंसा करने से निवृत्त भी कर दिया है। एक प्रसिद्ध घटना इसप्रकार है। यह घटना स्वयं उस भक्त के जीवन की है जिसके साथ स्वामी जी महराज तीन महीने रहे थे और उसी के घर रहते हुए उन्होंने उस घटना का सामना किया था। यहाँ उस व्यक्ति के शब्दों मे पूरा चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है।[2]

"सन् १९१४-१५ का काल था। मैं मलयाट्टूर डिविज़न में 'फारस्ट अफसर रहा था। मेरे घर को पूर्व दिशा में करीब एक मील की दूरी पर स्वामी जी की थोड़ी ज़मीन थी और उसमें एक छोटा सा घर भी था। कभी-कभी स्वामी

1 'चट्टम्पि स्वामीकळ' —के भास्कर पिल्लै—पृ. १५३

2 के. नाणुपिल्लै—"श्री चट्टम्पि स्वामी स्मारक-ग्रंथ—पृ १३१-३४

जी महराज वहाँ आकर रहते थे । लेकिन, उन दिनों वे वहाँ बिलकुल नहीं आते थे। संयोगवश किसी ने सूचना दी कि स्वामी जी अपने घर पर हैं। हम उस पुण्य पुरुष के दर्शन के लिए आकुलित थे । इसलिए वह वार्ता अत्यंत सुखद थी । मैं सह-रेंजर श्री गोपालन तम्पि के साथ उनके दर्शन के लिए निकला और तीन बजे वहाँ पहुँच गया । परिचारक ने कहा कि स्वामीजी महराज भीतर विश्राम ले रहे हैं । भीतर जाकर दर्शन कर सकते हैं । हम भीतर प्रवेश कर उनके निकट पहुँचे । स्वामीजी महराज जमीन पर घास की बनी एक नयी चटाई पर लेटे हुए थे । हाथ में एक टुकड़ा कागज़ था और दाहिने हाथ में एक पेंसिल पकड़े हुए कागज़ पर कुछ लिख रहे थे । साथ ही सिर को दोनों पार्श्वों की ओर घुमाते भी रहे थे । हमें देखते ही निकट बैठने का आदेश दिया । नमस्कार करने के बाद हम एक दूसरी चटाई पर बैठे । हमारा कुशल पूछा और पते जान लिये । इस बीच हमने देखा कि कई प्रकार के मेंढ़क उनकी चटाई के आसपास और सिरहाने उछल कूदकर चलते हैं । मैंने समझा कि ये प्राणी उनको बहुत तंग करते होंगे । पूछा–"ये तो यहाँ बहुत दिखाई देते हैं।" स्वामीजी महराज सुनकर मुस्कराये और बोले: "ये सब मेरे मित्र हैं । ये बाहर स्वच्छन्द विचर नहीं सकते । इनको खानेवाले दुष्ट जीव बाहर बरामदे के द्वारों और जंगल में होते हैं । इसलिए इन्होंने मेरा आश्रय स्वीकार कर लिया है । सुनकर हमको बड़ा ही आश्चर्य मालूम हुआ कि इस महात्मा के अलावा अन्य कौन होगा, जो इसप्रकार के क्षुद्र एवं म्लेच्छ प्राणियों को मित्र मानते हैं ! प्रथमत : हमको स्वामी जी के सर्वात्मभाव का सही उदाहरण प्राप्त हुआ । स्वामीजी महराज भोजन करके अवशिष्ट थोड़ासा अन्न लेकर बाहर आते । ठीक उसी समय बहुत चींटे बन की ओर से उनके पास आते और उनकी टांगों पर चढ़ जाते और घूटने तक जाकर बैठ जाते, मानों स्वामी जी मोजे पहने हुए हों । तब स्वामी जी महराज हाथ का अन्न नीचे डाल देते और शीघ्र ही सारे चीटे टांगों से उतरकर अन्न उठाकर वन की ओर जाते । इस तरह की कई लीलाएं वहाँ चलती थीं, जिनमें कोई–न कोई अत्यंत भीषण और चिरस्मरणीय हैं ।

उस दिन हमने दो–घंटे स्वामी जी महराज के साथ बिता दिये और कई प्रकार की शंकाएं निर्मुल कर दीं । स्वामी जी के कमरे में ढोलक, मृदंग जैसे अनेक प्रकार के बाजे रखे हुए दिखाई दिये थे । इन वाद्योपकरणों का अद्भुत प्रयोग वे करते थे । वेदांत, शरीरशास्त्र, संगीत, कला आदि में उनका ज्ञान अगाध था । वे सर्वकला वल्लभ थे और उनकी बराबरी करनेवाला, नहीं मिलता था ।

इस सन्दर्शन के पश्चात् दो–चार दिनों में एक दिन. स्वामी जी महराज

मेरे भवन में आये। उनके साथ उनके गृहस्थ शिष्य श्री पद्मनाभ पणिक्कर भी थे। लौटते समय मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे कुछ दिन मेरे साथ रहें। पर, जाते हुए उन्होंने कहा कि एक और सन्दर्भ में वे आशा-पूर्ति कर देंगे। पर मुझे चेतावनी दी कि उन्हें अपने आहारादि चर्या में निष्ठा है और ऐसे भवन से वे जलपान भी नहीं करेंगे जिस घर में मत्स्य-मांस का पाचन होता है। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि मेरे घर में मत्स्य और मांस नहीं पकते।

इसके बाद एक दिन स्वामी जी मेरे घर पर अतिथि बनकर आये और दो-तीन महीने तक ठहरने की बड़ी कृपा की। वे दिन मेरे और मेरे घर के लिए अत्यंत शोभायमान रहे थे। वे बच्चों से विशेष आकृष्ट थे। उन्हें अपार वात्सल्य प्रदान करते थे। वे सबेरे उठकर टहलने जाते थे और करीब दस बजे लौट आते थे। एक दिन उनके लौट आने में देर लगी। उस दिन उनके दर्शनार्थ परवूर से एक आदमी आया हुआ था। उसे तुरंत ही लौट जाना था, इसलिए वह श्री पद्मनाभ पणिक्कर को साथ लेकर बाहर निकले। स्वामी जी महराज अक्सर अपनी जमीन की तरफ जाया करते थे। उनकी कुटि पर पहुँचे, तो पता लगा कि वे बाहर चल रहे हैं। तुरंत ही दोनों उनकी खोज में दक्खिन में स्थित टीले की तरफ चले। वहाँ खड़े होकर उन्होंने चारों तरफ देखा। तब वे दोनों एक दृश्य देख अत्यधिक विस्मित एवं भयचकित हो गये। स्वामी जी उस टीले की तराई पर एक बाघ का सामना कर रहे हैं! बाघ और स्वामीजी दोनों आमने-सामने देखते हुए खडे हैं। दोनों आगत पुरुष स्तंभित रह गये। फिर दोनों पासवाले दो वृक्षों पर चढ़कर बैठे और कल्पना कर रहे थे कि अब उस भयंकर खूंखार जानवर के मुँह से स्वामीजी कैसे बच निकलेंगे? उन्होंने देखा कि स्वामी जी उस व्याघ्र से कुछ मंद-मंद बोलते हैं और थोड़ी देर बाद व्याघ्र ने उनकी ओर से मुँह मोड़ लिया और धीरे-धीरे वन की तरफ चला गया और स्वामीजी महराज टीले पर चढ़े आये। जब स्वामीजी निकट आये तब परवूर निवासी पेड़ पर से नीचे उतर आया। स्वामी जी ने उसे देखा तो पूछा "कब आये? क्या बात है?" तब उसने पासवाले पेड़ की ओर इशारा करते हुए श्री पणिक्कर की उपस्थिति सूचित कर दी। स्वामी जी देखकर हँस पड़े और आने की आज्ञा दी। वह जल्दी पेड़ से उतर आये और आँखों में पानी भरकर उनके पैरों पर गिर पड़े। और फिर बोले: "स्वामीजी, हमने यहाँ क्या देखा? हमारे लिए स्वामीजी के अलावा और कौन होता है? मुझे बड़ी ही व्यथा हो रही थी कि आगे मैं स्वामीजी के दर्शन कैसे करूँगा। वस्तुतः श्री पद्मनाभ पिल्लै रो रहे थे। स्वामीजी ने उनको आश्वासन दिया और कहा;

"मूर्ख, तुझे जीवन-धर्म के बारे में क्या मालूम है? यदि उस व्याघ्र ने इस शरीर से अपनी भूख मिटा दी होती, तब भी मैं कृतार्थ बनता। मैंने तो एक गाय का प्राण तो बचाया।" वह बाघ अचानक उस गाँव में आया था। गउओं का एक दल वहाँ घास चर रहा था। उन्होंने जान लिया था कि बाघ आनेवाला है। यह जानकर गायें शीघ्र ही मैदान छोड़ रही थीं, पर एक गाय बीच में रह गयी थी। उसी पर बाघ झपटने लगा था। स्वामीजी ने उसी गाय को बचाया। स्वामीजी ने उस क्रूर जानवर के भीतर विराजमान परम तत्व को जगा दिया। बस, यही उस नाटक का अद्भुत चमत्कार रहा था।

इसी स्थान पर हुई एक अन्य घटना के बारे में परवूर श्री नारायणपिल्लै द्वारा रचित श्री चट्टम्पि स्वामी नामक ग्रंथ में वर्णन है जो उपर्युक्त घटना से जुलता-मिलता है। पर थोड़ा अन्तर भी होता है। उसमें बताया गया है कि वन में स्वामीजी को देखकर बाघ एक घरेलू कुत्ते की तरह विनम्र हो गया और जैसे एक कुत्ता अपने मालिक से स्नेह, विनय और परिचय दिखा देता है उसी प्रकार उस बाघ ने भी दिखा दिया और स्वामी जी अपना बायाँ हाथ उसके सिरपर फेरते रहे थे। इनका परस्पर प्रेम-भाव पिता और पुत्र के बीच का जैसा था। अन्त में स्वामीजी महराज ने उन लोगों से कहा कि बह अपनी क्षुधा का शमन करने केलिए गायों को मारता है। लेकिन मनुष्य अपने सह मनुष्य को —भाई को-मारता हैं, तब, इन असभ्य वन-जन्तुओं के प्रति हमें विरोध न होना चाहिए।[1]

स्वामी विद्याधिराज महराज भावसिद्ध अवतारी स्वरूप रहे थे। इस आशय के अनेक प्रमाण उनके भक्तों के पास हैं। उनके संतत सहचारियों को ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त हुए हैं, जबकि उन्होंने अपने मानव स्वरूप के स्थान पर दिव्य रूप प्रकट कर दिये थे। निम्न लिखित घटनाए प्रसिद्ध हैं।

पी. दामोदरन पिल्लै अपने एक लेख में लिखते हैं: "मैं जब से तिरुवनन्त-पुरम में रहने लगा तब से मेरा परिचय दैवज्ञ चूडामणि श्री कृष्ण पिल्ले के साथ हुआ। उन दिनों उनके भवन का नाम 'नरसिंह विलासम' था (अब उस का नाम 'लक्ष्मी निवास' है।) मुझे हमेशा यह विचार रहा था कि श्री कृष्णपिल्लै जी ने अपने घर को वैसा नाम क्या दे दिया, जो बिलकुल असाधारण था। हमारे बीच की मैत्री

---

1 परवूर श्री गोपाल पिल्लै-चट्टम्पि स्वामी स्मारक ग्रंथ-पृ-१४४-१४५

जब तक दृढ़ बन गयी, तब तक मैंने उनसे इसके बारे में पूछा था । उन्होंने मेरी जिज्ञासा को एक कथा सुनाकर शांत कर दिया । उस कथा को सुनकर मैं रोमांचित तथा भाव-विभोर हो गया । वह कथा इसप्रकार है:

जब कभी श्री चट्टम्पि स्वामी महराज तिरुवनन्तपुरम आया करते थे तब नन्दियार वीट के श्री परमेश्वरनपिल्लै केयहाँ रहा करते थे । स्वामीजी के निवासस्थान में हमेशा दर्शकों की भीड़ थी । एक बार उनमें अवतार-सम्बन्धी चर्चा छिड़ गयी । एक सज्जन ने स्वामीजी से जानना चाहा कि अवतार का तथ्य क्या है ? स्वामी जी महराज ने उतर दिया कि अवतार का सम्बन्ध हमारे मन के साथ है । अर्थात् जैसा हमारा मन है वैसा अवतार भी है । इस उत्तर से सुननेवालों को शांति नहीं मिली । उन्हें मालूम नहीं हुआ कि स्वामीजी के प्रस्ताव का क्या सही भाव है । यही नहीं, उनके मन में शंका बढ़ ही गयी । उन्होंने चाहा कि स्वामी जी इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण सहित समाधान दें और उन्हें अनुग्रह प्रदान करें । अपने भक्तों की इच्छा बलवती होती देखकर स्वामीजी का हृदय आर्द्र बन गया । वे एक कमरे के भीतर गये । कमरे में प्रवेश करने के पूर्व उन्होंने उनसे कहा कि जब एक असाधारण शब्द भीतर से तुम्हें सुनाई पड़ेगा तब दरवाज़ा खोलकर देखो । स्वामी जी महराज भीतर बैठ गये । बाहर भक्त जन आकांक्षा के साथ खड़े रहे । थोड़ी देर बाद कमरे के भतर से 'ओंकार' नाद सुनाई पड़ा । उन्होंने दर्वाज़ा खोला और देखा ! साथ ही वे सब स्तंभित रह यये और 'बस-बस' कहते हुए सब मूर्च्छित होकर गिर पड़े । उन्होंने उस समय भीतर स्वामीजी को नहीं देखा, प्रत्युत देखा घोर नृसिंह रूप को ! सिर पर मुकुट, लम्बे-सफेद रोम, और उग्र रूप का नृसिंह-मुख ! दंष्ट्राएं, मुंह से बाहर लट्कती हुई रूधिरात्क जिह्वा, लाल-लाल नासिका, चारों करों में शंख-चक्र गदा-पद्म, पीताम्बर आदि से भूषित नृसिंह रूप का प्रसिद्ध रूप देखकर वे प्रज्ञा-शून्य हो गये । थोड़ी देर बाद स्वामी जी ने सब को जगाया । उन्होंने देखा कि नृसिंह के स्थान पर उनके प्रिय स्वामी खड़े हैं ! स्वामी जी ने मधुर एवं मंद स्वर से पूछा, "क्या अब अवतार का तथ्य समझ गये ।" सब ने एक साथ उत्तर दिया-"समझ गये स्वामी जी, समझ गये ।"

इस घटना के पश्चात् दैवज्ञ चूड़ामणि कृष्ण पिल्लै नृसिंह मंत्र का जाप करने लगे । और अपने घर को 'नरसिंह बिलासम' नाम दे दिया । यह कथा सुनकर मैं रोमांचित हुआ और उसकी स्मृति मात्र से भाव-विभोर हो जाता हूँ । स्वामीजी महराज को अवतार मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।"[1]

---

1 पी. दामोदरन पिल्लै —गुरुप्रणामम्-पृ. ७४. ७५

इसी प्रकार का एक पवित्र दर्शन कोल्लम में रहते हुए स्वामी जी महराज ने अपने भक्त जनों को दिया है। स्वामीजी प्रसिद्ध वैद्य ओ. एन. कृष्णकुरुप के यहाँ ठहरे हुए थे। श्री कुरुप के घर के समीप ही धर्म-प्रवक्ता श्री पी. के. नारायणन उण्णित्तान रहते थे। दोनों बड़े ही मित्र और स्वामीजी के अनन्य भक्त थे। एक बार स्वामी जी उनके 'चिट्टूर भवन में ठहरते थे। तब कुछ भक्तों ने मोह प्रकट किया कि स्वामी जी कोई दिव्य दर्शन देने की कृपा करें। स्वामी जी ने एकदम उस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया, पर भक्त जनों की इच्छा बलवती हुई तो, वे मान गये। वे एक कमरे में बैठ गये और दरवाजे बंद किये गये। बताया था कि कोई सूचना मिलेगी, तब दरवाज़ा खोल दिया जाय और दर्शन करें। कहे अनुसार जब ओंकार नाद भीतर से मंद्रध्वनि के साथ मुखरित हुआ, तो वे लोग अन्दर प्रवेश कर पाये। पर उन्होंने वहाँ क्या देखा ? केवल एक उज्वल प्रकाश मात्र ! स्वामीजी दिखाई नहीं दिये। भक्त जन साद्भुत खड़े रहे और नाम भजन में डूब गये। धीरे-धीरे प्रकाश की तीव्रता कम होने लगी और स्वामी जी को वहाँ बैठे हुए पा गये। भक्तों ने स्वामी जी के सम्मुख दण्ड नमस्कार किया !

ऊपर कहा जा चुका है कि मलयाट्टूर वाले अपने छोटे से घर में स्वामी जी महराज बीच-बीच में जाकर एकांत जीवन ही क्या, तपस्यामय जीवन बिताते थे। वह जमीन 'पेरियार' के किनारे पर थी। स्वामी जी नदी में स्नान करने जाते थे। जहाँ वे उतरकर स्नान किया करते थे वहाँ पानी में बहुत बड़ा गर्त था। इस कारण से अन्य लोग वहाँ नहाने न उतरते थे। स्वामीजी का एक गृहस्थ शिष्य श्री पप्पु पिल्लै उनके साथ स्नान करने गये थे। पप्पु पिल्लै दूसरी जगह पर उतर कर नहाने लगे। वे तैरना जानते थे। जब तैरते हुए उन्होंने स्वामी जी को देखा था तब उन्हें लगा कि स्वामी जी पानी के ऊपर बैठकर शरीर पर साबुन लगाते हैं। पप्पु पिल्लै स्वामी जी के पास जाने के विचार से उस ओर तैरने लगे। तब स्वामी जी ने दूर से उन्हें रोक दिया। पप्पु पिल्लै स्नान करके ज़मीन पर से उनके निकट आये और देखा कि स्वामी जी जहाँ बैठकर शरीर पर साबुन लगा रहे थे वहाँ न कोई चट्टान था और वहाँ कोई खड़ा भी नहीं रह सकता था। वह स्थान बहुत गहरा था ! वे इसी उधेड़बुन में खड़े थे कि ठीक उसी स्थान से एक मोटी नाव जा रही थी, जिसका मल्लाह अपना बांस का डंडा पानी में डालता था तो वह पूरा पानी में डूब जाता था। यह विचित्र अनुभव देखकर पप्पु पिल्लै जी ने स्वामी जी महराज से पूछा "मैंने समझा था कि स्वामी जी पत्थर पर बैठकर साबुन लगा रहे हैं। वह जगह तो बहुत गहरी तो है ?" यह सुनकर स्वामी जी ने सस्नेह कहा:

"इसलिए ही तुम्हें मना किया था न कि उस ओर न आवे । यह बूढ़ा चाहे, जहाँ जावे, बच जायगा ।" इस उत्तर से पप्पु पिल्लै समझ सके कि स्वामी जी जल के ऊपर बैठ सकते हैं ।[1]

श्री पप्पु पिल्लै के छोटे भाई पी. जी. नारायणपिल्लै और कृष्णपिल्लै आदि उस समय कुमार तो थे । दोनों के बारे में उन्होंने जो भविष्य वाणी की, वह अक्षरशः ठीक निकला है । कृष्णन उन दिनों बच्चा था और स्वामी जी बच्चों को बहुत प्यार करते थे । एक बार स्वामी जी ने कृष्ण को गोद में लेकर कहा कि यह बच्चा भविष्य में श्रेष्ठ अध्यात्म जीवन व्यतीत करेगा ।[2] स्वामीजी को कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं । दुर्दुरी शक्ति उन्हें सहज प्राप्त थी । उसी का अनुभव भी श्री पप्पुपिल्लै. जी को हुआ था । श्री पप्पुपिल्लै इरिङ्ङोळ् नामक एक जगह में स्कूल के मास्टर थे । वहाँ एक सुन्दर वन था और उस वन में एक देवी क्षेत्र और एक शिवमंदिर था । एक बार दिसम्बर की छुट्टी में स्वामीजी भी पप्पु पिल्लै के साथ रहे थे । एक दिन, जो तिरुवातिरा नक्षत्र का था उन्होंने विशिष्ट भोजन वगैरह घर से स्कूल पहुंचाया । उस दिन उनके भाई पप्पुपिल्लै ने उनसे स्वामीजी से संबन्धित एक घटना कह सुनायी । एक रात में खाना खाने के बाद स्वामी जी ने भाई से कहा कि तुम अपने पत्नीगृह जाओ । मैं आज अकेला ही रहूँगा । जब स्वामी जी ने निर्बन्ध प्रकट किया तो भाई ने उसे मान लिया । भाई तो निकले और थोड़ी दूर चले, पर लौट आये । उस समय स्कूल के कमरे के सब दर्वाज़े और वातायन बंद थे । चांदनी रात थी । कमरे के भीतर थोड़ा सा प्रकाश होता था किसी वातायन के द्वार से भाई ने, भीतर की ओर देखा, तो वे चकित रह गये । स्वामी जी पद्मासन में बैठे हुए हैं । लेकिन फरश पर नहीं, कमरे की छत के नीचे अंतरीक्ष में ! जब स्वामी जी फर्श पर लौटे और प्राणायाम आदि से निवृत्त हुए तो समझ गये कि पप्पु पिल्लै बाहर खड़े हैं । उन्होंने समझ लिया कि पप्पुपिल्लै को बात मालूम हो गयी । तब स्वामी जी महराज ने कहा कि प्राण निरोध का अभ्यास कुछ दिनों से बंद था । देख रहा था कि अब भी प्रयोगक्षम हो कि नहीं । देखो, दूसरों से मत कहना ।[3]

श्री विद्याधि राज स्वामी महराज की इच्छा बलवती रही थी । प्रकृति

---

1 स्मरणांजलि–पी. जी. नारायणपिल्लै, पेरुम्पावूर

2 वह बच्चा कृष्णन आज उत्तर काशी में 'महादेववनम्' नाम से सन्यासी हैं ।

3 पी. जी नारायण पिल्लै-गुरुप्रणाम पृष्ठ-१८३ ८४

भी उस इच्छा को माननेवाली रही थी। श्री एटत्तिल नारायण पिल्लै स्वामीजी के अनुचर रहे हैं। ऐसी एक घटना का वर्णन किया जो स्पष्ट करती है कि स्वामी जी प्रकृति को भी अपनी वशवर्तिनी कैसे बना सकते थे:

"मैं एक बार स्वामी जी महाराज के साथ कोडुंगल्लूर गया था। स्वामी जी वहाँ एक भक्त का निमंत्रण स्वीकार कर उसके यहाँ गये थे। सन् १९५१ के दिन थे। बरसात का मौसम था। लौटते समय एक छोटी नाव पर यात्रा शुरु हुई। हमारे साथ मेरा एक मित्र भी था। शाम का वक्त हो गया, जब अष्टीकोट्टु जलाशय में पहुँचे तब पानी बरसने का प्रारंभ हो गया। सारा आसमान बादलों से अंधकार-मय हो गया। जोर की हवा भी होने लगी। मल्लाह तो बड़ा समर्थ भी नहीं था। चारों तरफ देखने पर हमें ऐसा लगा, मानों समुद्र से जा रहे हों। किनारे का कोई निशान नहीं दिखाई देता था। मल्लाह ने आगे बढ़ते जाने का कठिन प्रयत्न किया। हम देख रहे थे कि मल्लाह क्या कर रहा है। नाव को किसी भी प्रकार आगे ले जाने में वह असमर्थ सा हो रहा था। शीत भी अतीव कठोर था। मल्लाह को प्रोत्साहित करने की चेष्टा में हमने पूरा यत्न किया। लेकिन उसका दिल कांप रहा था। मुंह से शब्द नहीं निकलता था। हम भयभीत हो गये। बड़ी विचित्र बात थी कि स्वामी जी महराज उस नाजुक सन्दर्भ में भी कोई गीत गुनगुना रहे थे। हमने दर्दनाक स्वर में पुकारा : "स्वामी जी !" मित्र ने मुझसे कहा कि यह हमारी अंतिम यात्रा सी लगती है। बड़ा खेद है कि स्वामी जी को भी यहाँ इस दुर्गति में प्राण छोड़ने पड़े !" मैं बिलकुल बेबाक रह गया। सारा धैर्य छूट गया। समुद्र का संगम स्थान है। ज्वार-भाटा होने लगा है। नाव वैसे ही तरंगों में पड़कर समुद्र की ओर जोर से जा रहा था। कोटुंगल्लूर समुद्र में पड़ने जा रहा है। मैंने लाचार होकर साथी से कहा "बन्धु, अब बचना मुश्किल है। मरना ही बदा है। अन्तिम प्रार्थना करेंगे।"

हम भयविह्वल होकर स्वामी जी महराज के बहुत निकट जाकर बैठे। फिर एक बार पुकारा: 'स्वामी जी !' तब स्वामी जी शांत स्वर से बोले : "हमारा अब तो बुरा समय नहीं है। डरो मत।"

स्वामी जी का आश्वासन पाकर हमारे प्राण में प्राण आये। फिर भी भीतर ही भीतर भय समा हुआ रहा था। नाव तो समुद्र मुंह पर आ रही है। अब कैसे बचना संभव है ? हमारी प्रज्ञा कुंठित होने लगी थी। मरण की भी आशंका से हम विक्षुब्ध हो उठे। यह भी हम भूल गये कि एक महात्मा के साथ

उनके निकट हम बैठे हुए हैं। उनकी अपार शक्ति को भी हम भूलते गये थे। अति परिचय से हम उन महापुरुष का प्रताप विस्मृत कर गये। इस प्रकार फिर दस मिनट और गुज़र चुके। तब....तब लो, एक दीप दिखाई दिया! नाव समुद्रोन्मुख गति छोड़ चुकी है। प्रवाह और तरंगें विपरीत नहीं हैं। आश्चर्य-आश्चर्य! नाव किनारे लग रही है! नाविक बेसुध जैसा हो चुका था। अब हमारे आनंद की ध्वनियों से उसकी चेतना लौट आयी। अंत में नाव मंदिरवाले तट पर लग ही गयी। हमारे स्वागत के लिए मंदिर के पुजारी और अन्य लोगों की भीड़ लग गयी। उनके साथ उसी रात में हम निर्बाध अपने-अपने घर पहुँच गये। यद्यपि मैं इस घटना से बच गया तथापि उसकी स्मृति मात्र से मैं आज भी भयभीत हो जाता हूँ। वह घटना वस्तुतः उतनी ही अविचल और अविस्मरणीय रही है।"[1]

स्वामीजी महराज जैसे मन पर पूर्ण अधिकार रखते थे वैसे शरीर एवं इंद्रियों पर भी उनका संपूर्ण अधिकार रहा था। वे तैरना खूब जानते थे। एक बार उन्होंने गुरुवायूर निवासी वेलप्पन मेनन नामक एक प्रसिद्ध तैराक का दंभ-शमन कर दिया था। श्री मेनन स्वामीजो से बार-बार मिलते और घुड़सवारी और तैराई में अपनी सामर्थ्य पर डींग हाँकते थे। और उनका दृढ़ विश्वास था कि इन दो कर्मों में उनको जीतनेवाला कोई शायद ही मिलेगा। एक बार उनकी आत्मप्रशंसा सुनकर स्वामीजी बोले कि कोई ऐसा हो सकता है, जो तैरने की सामर्थ्य तुमसे अधिक रखता है। उन्होंने इस प्रस्ताव पर स्वामी जी को ललकारा तब स्वामी जी बोले कि मैं बाज़ी नहीं लगाना चाहता, पर देख लूंगा कि तुम आगे हो। निश्चित जलाशय में अनेक लोगों की उपस्थिति में उन्हें तैरने की व्यवस्था प्राप्त हुई। मेनन ने कहा कि दूसरे किनारे पर जाकर तुरंत वापस इसी किनारे पर आ जाना चाहिए! स्वामीजी ने मान लिया। जलाशय बिस्तृत था। बर्षाकाल होने से पानी भरा हुआ रहा था। दोनों ने प्रारंभ किया। पहले मेनन ही निकले बाद में स्वामी जी। स्वामी जी उस पार पहुँच गये और बापस आने लगे। और उधर मेनन उस पार अभी तक पहुँच ही नहीं पाये। अपने सामने से स्वामी जी को आगे बढ़ते हुए देखकर मेनन की व्यग्रता बढ़ गयी और फलस्वरूप वह थक भी गये। लौटते हुए उन्होंने देखा कि स्वामीजी बहुत आगे बढ़ चुके हैं। अभिमानी मेनन का मन शिथिल हुआ होगा कि वे थककर हाथ-पाँव मारने लगे। स्वामी जी ने देखा कि मेनन की हालत बिगड़ रही है। तुरंत स्वामीजी ने वापस

1 चट्टम्पि स्वामिकळ्-के. भास्कर पिल्लै-पृष्ठ. १५८—१६१

जाकर उनको बाँहों में लिया और किनारे लाकर डाल दिया। किनारे के दर्शक लोग खूब मज़ा उठा सके। परेशान होकर मेनन ने क्षमायाचना के साथ स्वामीजी के पैर पकड़े।[1]

एक बार श्री तलवटी कृष्ण पिल्लै जी स्वामीजी महराज के साथ शाम के समय टहलने निकले थे। मार्ग में एक पागल जैसे आदमी ने स्वामी जी को देखा। उसने उनके निकट आकर स्वामीजी के पैरों गिरकर उनका हाथ फेरा और आँखों से अश्रुधारा बह निकली। बड़ी ही विनम्रता के साथ वह वहाँ से टल गया। यह देखकर श्री कृष्ण पिल्लै बहुत ही शाठ्य करने लगे कि इसका रहस्य बता दें। स्वामी जी बात टालते गये, पर पिल्लै न हारे। तब स्वामी जी महराज ने उनसे कहा– " वे एक सिद्ध पुरुष हैं और अगले दिन उनका देहावसान होने वाला है। वे अगले दिन परम-धाम पहुँच जायेंगे, इस आनन्द में अश्रु निकाल रहे थे। श्री कृष्ण पिल्लै की जिज्ञासा को समाधान देते हुए स्वामी जी ने उन्हें याद दिलाया कि ऐसी बातें अत्यंत रहस्यमयी हैं। इन्हें दूसरों से कहना ठीक नहीं होगा। जब तक मैं जीवित रहूँगा, तब तक किसी से मत कहना। अगले दिन निश्चित समय पर वह सिद्ध पुरुष समाधिस्थ हो गये। महापुरुषों की दृष्टि क्या-क्या देख सकती है, इसका क्या अंदाज़ा है[2]।

स्वामी जी की आज्ञा बंदर भी नहीं टालता था। श्री. पी. जी नारायण पिल्लै एक घटना का उल्लेख करते हैं- "जब स्वामी जी महराज मेरे घर में रहते थे तब डेप्यूटी तहसीलदार श्री कृष्णन पण्टाला के भागिनेय (मधुसूदन और मीनाक्षी) वहाँ आये। उनके साथ उनका एक पालतू बंदर भी था। हमारा घर वनप्रदेश में था। जब बच्चों के बंदर ने जंगल के बंदरों को देखा, तब उनके साथ दूर चला गया। वापस नहीं आया। बच्चे घबराये और स्वामी जी से जाकर कहा। स्वामीजी महराज तुरंत बाहर निकलकर आज्ञा के स्वर में बोले–"बच्चों का बंदर आ जावे।" वह बंदर उसी समय वापस आया और बच्चे अतीव प्रसन्न हो गये।

स्वामी जी महराज पहुँचे हुए राजयोगी थे, जिन्हें न किसी चमत्कार के दिखाने में मोह था और न उसके कारण होनेवाले लाभ से ममत्वभाव। वे न

---

1 चट्टम्पि स्वामीकळ्—के. भास्कर पिल्लै-पृ. १६१-१६२

2 वही-पृष्ठ-१६२–१६३.

चाहते थे कि अपनी एक परम्परा हो। पंथ की स्थापना करने की ओर उन्होंने कभी नहीं सोचा था। ऐसे विरक्त राजयोगी, सिद्ध पुरुष होने पर अपनी इच्छा से कभी चमत्कार दिखाना नहीं चाहेंगे। पर बहुत से चमत्कार उनके द्वारा प्रकट हुए हैं। यह इसलिए हुए हैं कि भक्त जनों ने उनकी कामना की थी। अक्सर अवतारी पुरुषों के द्वारा चमत्कार प्रकट होते तो हैं। इसके बल पर उनकी ओर लोग आकृष्ट होते हैं। इसका भी फल अच्छा हो सकता है, क्योंकि मनुष्य अक्सर चमत्कार से अधिक प्रभावित होता है। उस आकर्षण के साथ सीधे और क्रमशः सचाई की पकड़ होने लगती है। भारतीय ऋषि-परंपरा के साथ ऐसे चमत्कार की अद्भुत कथाएं जुड़ी हुई हैं। भारतीय जीवन में सिद्धि अथवा चमत्कार के प्रति आकर्षण प्राचीन युग से होता है। हमारे पुराणों एवं इतिहासों में भी ऐसी कथाएं अनंत हैं, जिनसे हमारी संस्कृति तेजोदीप्त हो चुकी है। इसलिए यह धारणा गलत है कि चमत्कार अथवा सिद्धियाँ केवल अविश्वसनीय हैं। लेकिन सिद्ध पुरुष के लिए उनका कोई विशेष लाभ नहीं मालूम होता। इसलिए वे स्वयं चमत्कार करने में तत्पर नहीं हैं। परन्तु फिर भी वे सिद्धियों को लिए हुए रहते हैं और ऐसी ताकत उनमें हमेशा होती है, कि अणिमा-गरिमा जैसी अष्ट सिद्धियाँ उनके सामने खड़ी रह सकें। यद्यपि इन सिद्धियों से प्रयोक्ता का अपना कोई फल सिद्ध नहीं होता तब भी परोक्ष रूप से उनके महत्व का बोध अवश्य होता है। सिद्ध-पुरुष तो स्वयं अनुग्रह दाता हैं ही और अपने जगत को वे मंगल देते रहते हैं। वे स्वयं जगत् के अथवा मानव के मंगल के प्रतीक-स्वरूप हैं। चमत्कार से कहीं श्रेष्ठ उनका दिव्य-भाव ही महत्व का है। अतः यह सुनिश्चित बात है कि चमत्कार के द्वारा सिद्ध पुरुष की पूर्ण क्षमता आंकी नहीं जा सकती। सिद्धपुरुष चाहें, चमत्कार दिखाएं चाहें न दिखाएं उनका महत्व उनके दिव्य भाव में निहित है। यही विद्याधिराज महराज की महिमा थी कि उन्होंने भक्त-जनों के मन-रंजन के लिए ही अपने चमत्कार प्रकट किये हैं।

सर्व-कला-वल्लभ स्वामीजी

यह तो सर्व-विदित सत्य था कि श्री विद्याधिराज चट्टम्पि स्वामी जी महराज असंख्य कलाओं में निष्णात थे। स्वयं श्री नारायण गुरु स्वामी ने अपने गुरु देव की समाधि के दिन दो श्लोक रचे उनमें एक से उन्होंने स्वामीजी महराज के संपूर्ण चित्र खींच दिये हैं जैसे—

सर्वज्ञऋषिरुत्क्रांत:
सद्‌गुरुः शुकवर्त्मना
आभाति परमव्योम्नि
परिपूर्ण कलानिधि:

स्वामीजी महराज अनेक प्रकार के महत्वों से पूर्ण महापुरुष रहे थे। आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्वामीजी संगीतज्ञ एवं गायक थे और संगीत कला में प्रवीण बड़े-बड़े बिद्वान उनके सामने नतमस्तक रहते थे। जहाँ-जहाँ वे रहते थे वहाँ-वहाँ के लोग उनके अलौकिक एवं दिव्य स्वर तथा रागालाप से मुग्ध होते थे। एक बार वे नेय्याट्टिनकरा वाले महादेव-मंदिर के उत्सव में संगीत की वेदी पर एकदम प्रत्यक्ष हो गये। वहाँ उस वेदी पर उन्होंने अपने क्लासिक संगीत के आलापन से सबको विस्मित कर दिया। वे क्लासिक संगीतकला के धुरंधर थे। वे अपनी यात्रा के सन्दर्भों में हमेशा मंत्र-जाप और गीत से उन्मद रहे थे। वे अपनी तर्जनी में एक अंगूठी पहने रहे थे। उसी के स्पर्श से आप सुन्दर बाजा बजाते रहते। और उसी के ताल-लय के साथ वे मंद-मंद स्वर से गाते रहते। गीत भी ऐसे, जो गाँव के प्राचीन तथा प्रसिद्ध गीत थे। जीवन के निम्न स्तर के ग्रामीण जनता के गीत खूब गाते थे। ग्रामीण-संगीतों के वे सच्चे जानकार थे और मधुर भाव से उनको गाते थे। वे भक्ति रसप्रधान गीत स्वयं रचते थे। वे [1] संगीत का अध्यापन भी करते थे। वे 'चेण्टा' 'मद्दल', 'इटक्का', 'उटुक्क' 'मृदंग', 'तकिल',

---

1 जीवन्मुक्त विद्याधि राज स्वामी महराज—स्वामी प्रबोधानन्दा, गुरु प्रणामम- पृ. १६८

'पाणी' आदि बाजे समय-समय पर बजाकर सहृदय कलाप्रेमियों की प्रशंसा के पात्र बने थे ।

जैसे वे उत्कृष्ट गायक थे वैसे एक पहुँचे हुए बाजा-वादक थे । वे अपने भक्तों को ललिता-सहस्रनाम वीणा-वादन के साथ जपकर सुनाते थे । एक बार स्वामी जी महराज प्राक्कुलम पद्मनाभ पिल्लै तहसीलदार के यहाँ रहे थे । उस समय दो प्रसिद्ध नादस्वर गायक वहाँ उपस्थित थे । एक था प्रसिद्ध कटवूर कुट्टप्प पणिक्कर, और दूसरा था एक तमिल भाषी प्रसिद्ध बाजा बादक । श्री पद्मनाभ पिल्लै ने कई बातों में स्वामीजी की परीक्षा ली थी । [ऊपर कुत्तों के सन्दर्भ में एक घटना का वर्णन हो चुका था] अब की बार स्वामी जी के संगीत-ज्ञान का अवगाहन लेना चाहा था । उपर्युक्त नादस्वर विद्वानों में श्री पणिक्कर स्वामी जी की अद्भुत सिद्धि के बारे में पहले ही जानकार थे । इसलिए उन्होंने अपना बाजा थैली से बाहर नहीं निकाला था । पर तमिल भाषी विद्वान स्वामी जी से परिचित नहीं थे; यही नहीं, अक्सर तमिल विद्वानों को यह गर्व है कि मैं इस विद्या का एकमात्र अधिकारी हूँ । शायद उस विद्वान को भी यह गर्व व्यापे रहा था । इसलिए वह अपना नादस्वर वादन शुरू करने लगा । 'तकिल'– वादक घबराने लगा, तो स्वा-मीजी, मानों उसकी सहायता करने केलिए उस बाजे को लेकर बजाने लगे । आखिर वादन समाप्त हुआ तो तमिलवाला अत्यंत अद्भुत स्वर में "हाय कटवुळे! (हाय भगवान् !) नी तान् मुरुकन् (आप ही साक्षत् षड़मुख हैं) बोलते हुए स्वामी जी के पैरों पर गिर पड़ा । स्वामी जी ने उसे उठाकर आशिर्वाद दे दिया ।

एक बार स्वामी जी मध्य तिरुवितांकूर के एक प्रसिद्ध मन्दिर में आये हुए थे । वहाँ गर्भ-गृह के बाहर भूतगणों का बलितर्पण हो रहा था । बाजा बजाने वाले के हाथ से स्वामीजी महराज ने बाजा ले लिया और बजाने लगे । पुजारी ने नये और सविज्ञ बाजा-वादन सुनकर मुग्ध होकर उसके ताल-लय के साथ बलि-तर्पण किया । पर, बहुत देर तक, याने रोज के निश्चित समय से ज्यादा समय तक । फिर पुजारी को किसी ने स्मरण दिलाया कि अन्नादि समाप्त हुए और अब तर्पण समाप्त किया जाय !

एक बार प्रसिद्ध लेखक परवूर श्री गोपालपिल्लै [आपने स्वामी जी के नाम पर एक बृहद् ग्रंथ प्रकाशित किया है ।] और कुछ युवक मित्र स्वामीजी महराज के निवास-स्थान गये । घर के बाहर तक पहुँच जाने पर उन्हें लगा कि भीतर अत्यंत श्रेष्ठ एवं अद्भुत मृदंग-वादन सुनाई दे रहा है । वे कुतूहलता के साथ भीतर

पहुँचे, तो क्या देखा [1] स्वामीजी महराज एक फटी–पुरानी खाट पर ऊपर की तरफ देखे हुए लेटे हुए हैं । अपने पेट पर एक तांबे का घट मुँह औंधा रखकर उस पर मृदंग पर जैसा वादन कर रहे हैं ! ऊँगली की अंगूठी कभी टकरा कर विशेष ध्वनि निकालती है । यह सुनकर यक्ष-गंधर्व आदि भी मुग्ध हो जा सकते थे । यथार्थ मृदंग–ध्वान का मनोहर एवं हृदय हारी अनुभव हो जाता था ।

अनेक सन्दर्भों में स्वामी जी की अद्भुत कलात्मक लीलाएं हुई हैं । वे जिस कला को प्रकट करना चाहते थे उस कला में अतीव निपुणता का परिचय दिया करते थे । चित्र-कला में भी वे श्रेष्ठ विद्वान रहे थे । उनकी रची एक तस्वीर अनेक वर्ष तक कुम्पलत्तु श्री शंकुपिल्लै के यहाँ सुरक्षित रखी हुई थी । पेन्सिल की रेखाओं से वे अतीव सामर्थ्य के साथ 'कार्टून' एवं हास्य खींचते थे । चित्रकला सम्बन्धी वैज्ञानिक ज्ञान वे जानते थे । भावों की सही अवृष्क्रिया में उन्हें असाधारण दक्षता प्राप्त थी । एक बार प्राक्कुलम पद्मनाभ पिल्लै के भवन में एक चित्र-कला–प्रतिस्पर्धा आयोजित हुई । उसमें बहुत से अभ्यस्त चित्रकारों ने भी भाग लिया था । विषय था, एक अंग्रेज़ बालक, जो खट्टा आम खाकर अपना अनुभूत-रस खटापन प्रकट करता है । स्वामीजी का चित्र अत्यंत आकर्षक रहा था । भारत का अनीति पूर्ण आस्वादन करनेवाले अंग्रेज़ की ओर स्वामी ने इशारा किया होगा । अंग्रेज बालक का मुख देखते ही बनता था । यह चित्र उनके समाधि-पीठ पर रखा हुआ था [2] (आज वह चित्र नहीं मिलता; पता नहीं कि वह कैसे नष्ट हो गया)

स्वामी जी महराज एक श्रेष्ठ अभिनेता थे । अभिनय कला में वे 'कथकळि की ओर अधिक अभिरुचि प्रकट करते थे । 'कथकळि' के सम्मिलित तथा समंजस तत्वों का अवगाहन करने में वे अतीव समर्थ थे । उसके अनेक गीत उन्हें कण्ठस्थ थे और उनके भावों के अनुरूप अभिनयमुद्राओं का असाधारण सांकेतिक ज्ञान उन्हें प्राप्त था ।

महर्षि विद्याधि राज महराज भगवान् व्यास देव अथवा शुक मुनि आचार्य शंकर जैसे सिद्ध पुरुष थे । सर्वज्ञ–त्रिकालज्ञ महर्षियों के लिए क्या नया क्या पुराना ! उनका ज्ञान नित्य-नवीन है । श्री विद्याधिराज चट्टम्पि स्वामी जी उस कोटि के एक महर्षि रहे थे । उनकी स्मरण शक्ति अद्भुत थी । अनेक उदाहरण

1 चट्टम्पि स्वामी महराज–पर्वूर गोपाल पिल्लै पृ०. १०८.
2 श्री कुंम्पलत्त, शंकु पिल्लै–श्री चट्टम्पि स्वामी स्मारक ग्रंथ पृ. ४३

मिलते हैं । प्रसिद्ध विद्वान पुत्तेषत्तु नारायण मेनन के यहाँ एक घटना हुई थी । श्री मेनन 'टेनिसन' की कविता पढ़ रहे थे । स्वामी जी उस सन्दर्भ में वहाँ पधारे । उनके आदेश पर श्री मेनन ने कविता पढ़ सुनायी और उसका सामान्य रूप से अर्थ भी बताया । आधे घंटे के बाद फिर स्वामी जी ने मेनन से कहा कि उस कविता का स्मरण–पाठ करो । मेनन असमंजस में पड़ गये । स्वामी जी ने मुस्कुराते हुए पूरी कविता स्मरण से सुना दी और जो अर्थ मेनन ने कहा उसे भी बता दिया ।

श्री एर्र्तु कृष्णन आशान् ने स्वामी जी को प्रसिद्ध मलयालम कवि कुमारनाशान् (श्री नारायण गुरु के शिष्य) की 'करुणा' (काव्य कृति) पढ़कर सुनायी। स्वामी जी ने पूरा काव्य दुबारा स्मरण से सुना दिया !

स्वामी विद्याधिराज महराज पहुँचे हुए कवि, और उत्कृष्ट ग्रंथकार थे । कविता–निर्माण आपके लिए विनोद था । द्रुतकविता–रचना में वे अतीव तत्पर थे । लेकिन, स्वामीजी रचना–प्रक्रिया में कभी तत्पर नहीं थे । कविता का निर्माण मौलिक रूप से होता था । यात्रा के बीच में नयी–नयी कविताएं अथवा श्लोक बोलते जाते थे । उन कविताओं को फिर लिखना अथवा लिखवाना उनके लिए जरूरी मालूम नहीं होता था । इसलिए वे सब श्लोक और कविताएं बचे नहीं रहे । जहाँ–तहाँ किसी घर में रहते हुए बच्चों के नोट-बुक में अथवा कागजों के टुकड़ों में कुछ लिख कर छोड देते थे । उसमें से कुछों का विद्वानों द्वारा संग्रम हुआ है । इसके अलावा एक–दो गीत भी मिले हैं, बस ।

जिसने वह तत्व जान लिया. जिने जानना था, उसे अन्य सभी तत्व अनायास ही प्राप्त होते हैं ।

"यज्ञात्वा नेह भूयोन्य–
ज्ञातव्य मवशिष्यते" (छान्दोग्य उपनिषद्)

ज्ञान-विज्ञान, धन–संपत्ति, कला–साहित्य सब उस वेद्य पुरुष के पास स्वयं पहुँच जाते हैं । भगवान् श्री रामकृष्ण देब ने इस वैभव की उपमा यों की है- "खलिहान में धान मापते हुए के सामने आगे–पीछे के लोग उस के सामने धान बढ़ा देते ही रहते हैं । इसप्रकार, जिसपर करूणामयी माँ प्रसन्न हैं उसे सब प्रकार के ज्ञान देती रहती हैं । श्री विद्याधिराज स्वामीजी महराज की भी ऐसी स्थिति रही थी । स्वामीजी परम ज्ञानी, तत्ववेत्ता और मुक्त पुरुष थे और उनके पास सारी विद्याएं–कलाएं हाथ जोड़े खड़ी थी ।

श्री विद्याधिराज महराज और स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी महराज ने एक बार स्वामी विवेकानन्द को भी प्रभावित किया था। श्री विवेकानन्द स्वामी सिलोन यात्रा पर थे। यात्रा के बीच में कुछ दिन एरनाकुलम में ठहरकर विश्राम लिया था। इन दिनों स्वामी जी महराज उनसे मिले थे। यह मिलन एक महामिलन था। इस महामिलन के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द के मन में केरल के बारे में उनका पूर्वमत, याने केरल एक पागलखाना है, अप्रधान हो गया है। क्योंकि उनके मन में स्वामी विद्याधिराज चट्टम्पि महराज के प्रति अपार आदर-भाव समाहित हो गया था। इन दोनों महापुरुषों के बीच के संदर्शन के बारे में 'श्री नीलाकंठ तीर्थपाद स्वामी'' [1] नामक ग्रंथ में निम्न प्रकार उल्लिखित है-

श्री परम गुरु पाद ने स्वामी विवेकानंद का उस अवसर पर दर्शन किया था, जब वे 'कोलंब' (सिलोन) जाने के लिए एरनाकुलम आकर विश्राम कर रहे थे। परम गुरु पाद के साथ सर्वशास्त्र विद् एवं वक्ता 'पद्मनाभाचारी' भी थे। श्री आचारी अंग्रेज़ी के विज्ञ थे इसलिए वे स्वामी जी से उसी भाषा में बोले थे और परमगुरु पाद ने संस्कृत भाषा में बातचीत की थी। ये दोनों सज्जन विचार एवं योगाचरण में समकक्ष रहे थे, इसलिए उनका भाषण शंका-समाधान रूप में नहीं था। जब बात-चीत समाप्त हुई थी तब विवेकानन्द के मन में गुरुपाद के प्रति बड़ा आदर भाव था। उनका मत यह था कि दक्षिण में इनके जैसे महात्मा लोगों से वे कभी नहीं मिले हैं। इस प्रथम संदर्शन के बाद फिर दो-तीन बार परम गुरुपाद अकेले स्वामी विवेकानन्द से मिले थे। स्वामी विवेकानन्द के प्रति वे जितने स्नेहादर प्रकट करते थे उतने ही उनके प्रति विवेकानन्द भी विनम्र और स्नेहाधीन रहे थे।'

---

1 श्री नीलकंठ तीर्थपाद स्वामी जी महराज के द्वितीय शिष्य थे।

श्री स्वामी विद्याधिराज महराज और श्री विवेकानन्द दोनों के बीच के सन्दर्शनों का विवरण देनेवाला एक लेख श्री टी. आर. अनन्तकुरुप ने 'सद्गुरु' मासिक पत्रिका में प्रकाशित किया था। श्री कुरुप कुछ काल तक श्री विद्याधि राज स्वामी महराज के अंतेवासी थे और तीर्थपाद परम हंस स्वामी के भागिनेय थे। इसलिए श्री कुरुप का लेख वस्तुस्थिति का यथार्थ बोध देनेवाला होता है। लेख निम्न प्रकार है:

"एक सुन्दर प्रभात में एक बड़ी नाव एरणाकुलम वाली घाट पर लगी। उसमें से एक युवक सन्यासी बाहर निकल आये। उसी समय दीवान सेक्रेटरी रामय्यर और पुलिस के अफ्सर चन्तु लाल दोनों सबेरे टहलते हुए उसी घाट पर आये। दोनों अफ्सर सन्यासीयों से स्वतः आकृष्ट होते थे। उन्होंने नाव से निकले हुए सन्यासी का परिचय प्राप्त करना चाहा। श्री रामय्यर ने पहले मलयालम में और बाद में तमिल में कुछेक प्रश्न किये, पर युव सन्यासी ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब नाविक ने समझाया कि मालिक, इसके कान नहीं सुनते। पिछली रात में इस नाव के बहुत से लोगों ने इससे कई प्रश्न पूछे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। मल्लाह के इस कथन के पश्चात् श्री चन्तुलाल अपनी मातृभाषा हिन्दुस्तानी में स्वामी से बोले और तुरंत उत्तर भी मिलने लगे। प्रथम दर्शन में ही दोनों अफ्सर के मन में सन्यासी के प्रति बड़ा आदर भाव पैदा हो गया था। उन्होंने उन्हें अपने यहाँ भोजन करने का आमंत्रण दिया। उनका आमंत्रण स्वामी ने स्वीकार किया। तीनों जन रामय्यर के यहाँ गये। वहाँ स्वामी को उचित सत्कार प्राप्त हुआ। बात-चीत के सिलसिले में चन्तुलाल और रामय्यर ने आपस में अंग्रेजी में कहा कि कुछ ऐसे धोखेबाज़ भी होते हैं, जो उदरपूर्ति के लिए सन्यासी का वेश धारण करते हैं। लेकिन इनमें सच्चे सन्यासी भी होते हैं। वे तो कभी-कभी पहचाने नहीं जाते। यह, तो अपराध होगा, इसलिए सबको आदर देना अच्छा होगा। यह परामर्श सुनकर स्वामी के मुख पर भाव बदलते हुए पाया गया। और दोनों अफ्सर समझ गये कि स्वामी अंग्रेजी जानते होंगे। पूछने पर उत्तर मिला कि 'थोडी थोडी मालूम है।' इसके बाद उन्होंने अंग्रेजी में ही बातचीत की। दोनों अफ्सरों को बड़ा आश्चर्य मालूम हुआ और उन्होंने कॉलेज के प्रोफसर मित्रों को सूचना दी कि एक स्वामी जी पधारे हैं और अच्छी अंग्रेज़ी सुननी है, तो, आ जावें।

रामय्यर की प्रेरणा से समीपस्थ एक गृह में रहनेवाले एक स्वामी जी नये सन्यासी से मिलने गये। रामय्यर और चन्तुलाल दोनों ने स्वामीजी के महत्व के बारे में सन्यासी से कहा। तब सन्यासी ने आर्ष-आचार-विधि से स्वामीजी का

स्वागत कर आदर प्रकट किया। इसके बाद, दोनों स्वामी घर के बाहर एक एकांत स्थान को लक्ष्य करके चले। एक वृक्ष की डाली पर एक वानर बैठा था, जिसे दिखाते हुए स्वामीजी ने युवा स्वामी से कहा कि "देखिए उस पेड़ पर मनुष्य का मन विराजमान है"

एकांत स्थान पर पहुँचकर दोनों बैठ गये। युवा स्वामी ने स्वामी जी से आग्रह प्रकट किया कि मुझे आप 'चिद्मुद्रा' के बारे में बता दीजिएगा, बड़ा अनुग्रह होगा। तब स्वामीजी ने तरजनी और अंगूठा दोनों को मिलाकर कहा कि यही चिद्मुद्रा है। युवा सन्यासी ने कहा कि इतना तो मैं समझ गया हूँ। पर, यही जानना चाहता हूँ। कि इस मुद्रा से आत्मज्ञान की प्राप्ति में क्या सहारा प्राप्त होगा। यह सुनकर स्वामी जी की वाक्निर्झरी प्रवहित होने लगी कि उन्हीं दोनों उँगलियों के स्पर्श मात्रा से एक नाडी-स्पन्दन होने लगता है और उससे एक नवीन शक्ति का उदय होता है। वह शक्ति सिर पर स्पर्श कर लेती है। स्वामी जी ने फिर इस आशय के समर्थन के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् का एक प्राचीन उद्धरण प्रस्तुत किया। सुनकर युवा सन्यासी का शंका-समाधान हुआ। और उन्होंने स्वामी जी का गाढ़ आलिंगन करके कहा—"मैं बंगाल से सुदूर दक्षिण तक आया हूँ। अनेक सन्यासियों से मेरा साक्षात्कार हुआ। मैंने बहुत से सन्यासियों से इसके बारे में पूछा था। लेकिन इसप्रकार सही शंका-निवारण करनेवाला कोई समर्थ व्यक्ति नहीं मिला था।"

इस महान् मिलन के पश्चात् विवेकानन्द स्वामीजी अपना दक्षिणी भ्रमण समाप्त करके उत्तर की ओर बढ़े। उत्तर से उस समय आनन्दजी नामक एक सन्यासी देशांतर भ्रमण करने के उद्देश्य से निकले हुए थे। विवेकानन्द स्वामीजी का उनसे परिचय था। जब आनन्दजी और विवेकानन्द जी दोनों का साक्षात्कार हुआ तब विवेकानन्द स्वामी जी ने उनको समझाया कि एरनाकुलम में एक महात्मा पुरुष निवास करते हैं। उनसे मिलकर ही लौटना चाहिए। आनन्दजी निर्देशानुसार एरनाकुलमवाले स्वामीजी के निवास-स्थान के सामने खड़े होकर पुकारने लगे— "चट्टम्पि – चट्टम्पि!"

उन दिनों स्वामीजी महराज एरनाकुलम छोड़कर इडप्पल्ली नामक प्रदेश में रहते थे। पता लगाकर आनन्दजी उनके यहाँ पहुँच गये। और उन्होंने कुछ महीने तक स्वामी जी का सहवास-भाग्य अनुभव कर लिया।

वहाँ रहते हुए आनन्द जी ने एक पुस्तक देखी , जो नागरी लिपि में लिखी हुई थी । आनन्द जी के समीप स्वामी नीलकंठ तीर्थपाद विराजमान थे । आनन्दजी ने पुस्तक खोलकर देखा, तो एक छपा हुआ चित्र मिला । "एक श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, यह किसका फोटो हैं ?" "गौर से देखिए"-नीलकंठ तीर्थपाद ने कहा । आनन्दजी ने फोटो ध्यान से देखा, तो मालूम हुआ कि वह स्वाजीजी महराज का है । वह ग्रंथ उन्हीं का रचा हुआ था । आनंदजी का उत्साह बढ़ गया और उन्होंने स्वामीजी महराज से प्रार्थना की कि उन्हें ब्रह्मरंध्र के बारे में बता दें । स्वामीजी महराज ने प्रश्न किया:

"पहले इस प्रश्न का सही तात्पर्य बता दें कि आप क्या जानना चाहते हैं । ब्रह्मरंध्र का मतलब ब्रह्म रूपी रंध्र से है अथवा ब्रह्म-मार्ग का रंध्र ? प्रश्नकर्ता चकरा गये । स्वामीजी ने प्रश्नकर्ता की सारी शंकाओं को समाधान प्रदान कर दिया । कहा जाता है कि आनन्दजी ने, फिर वहाँ रहते हुए स्वामीजी महराज के द्वारा खेचरी विद्या का अभ्यास प्राप्त कर लिया और इस के बाद ही वापस गये ।"

स्वामी जी महराज से मिलने और उनके दर्शन-लाभ से अनुगृहीत होने के उद्देश्य से बंगाल से और भी श्रेष्ठ सन्यासी केरल आये हुए हैं । एक बार अमृतानन्द नामक एक युवा सन्यासी बंगाल से स्वामी जी महराज के दर्शनार्थ आये। वे एक सिद्ध पुरुष थे, जिन्होंने पंचगव्य का १०८ आवर्तन संशोधन कर उसका सेवन किया था और १०८ लाख मंत्रजाप किया था । उनकी शारीरिक कांति और वाक्प्रतिभा अत्यंत आकर्षक रही थी । उनकी डायरी से पता लगा कि विवेकानन्द स्वामी की परम्परा के सन्यासी हैं और श्री चट्टम्पि स्वामी की दिव्यता का पता स्वामी विवेकानन्द की ओर से प्राप्त किया है । स्वामी अमृतानन्द भी स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से स्वामी जी महराज के दर्शनार्थ केरल आये हुए थे ।

स्वामी विद्याधिराज महराज की जन-सेवा

स्मामी विद्याधिराज महराज की महासमाधि सन् ५ मई १९२४ को हुई। उनका जन्म हुआ था सन् २५ अगस्त १८५३ में। ७१ वर्ष की अवस्था तक स्वामीजी जीवित रहे। उनके जीवन-काल में केरलीय ही नहीं, भारतीय जन-जीवन में ही एक नवोत्थान का शिलान्यास हो रहा था। जाति-पांति, अंधविश्वास, नैतिक-पतन, विदेशी शासन का दुष्परिणाम, आर्थिक विपन्नता, स्वधर्म जीवन के प्रति पराङ्मुखता, आदि असंख्य कारण ऐसे थे, जिनसे भारतीय जीवन का आधार हिल चुका था। और इसी परिस्थिति में भारतीय नवोत्थान का बीज-वपन होता है। नये रूप से राष्ट्र-निर्माण एवं स्वाधीनता-प्राप्ति की उत्कट अभिवाँछा से प्रेरित होकर आसेतु-हिमाचल अनेक देश-सेवी महापुरुष कर्म-योग के अर्थ को चरितार्थ करने लगे। गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्यतिलक, लाला लजपतराय, मदन-मोहन मालवीय, दयानन्द सरस्वती, श्रीरामकृष्ण परमहँस, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गान्धी, स्वामी विद्याधिराज परमहँस, स्वामी श्री नारायण गुरु, योगीराज अरविन्द, आदि राष्ट्रनायक विभूतियों ने परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से भारतीय नव-जागरण की यज्ञाग्नि को मन-वाच-कर्म से अपने-अपने घृत-समिधादि का अर्पण दिया है। इसके फलस्वरूप अनेक दशवर्षों से अलस-श्लथ भारतीय जीवन नवप्राण पाकर जाग उठा।

केरल संस्कृति, सभ्यता और परिष्कार की गणना में भारत का ही एक अखण्डित भूभाग तो है। भगवान शंकर का अवतार शंकराचार्य के रूप में केरल में ही हुआ। एक बार, उन्होंने मोह-मुग्ध, भयग्रस्त भारत को सचैतन्य कर दिया था। आज भी समस्त भारत उनकी मेधा का समुचित आदर करता है। और आज भी भारतीय जनता के लिए आचार्य शंकर प्रात: स्मरणीय गुरु तो हैं ही। जो शंकर समस्त जगत् के गुरु हैं, जो भगवान् बुद्ध अनेक भूखण्डों के आराध्य देव हैं, जो राम-और कृष्ण समूचे संसार के लिए मार्ग-दर्शक हैं उन्हीं का पुण्य-देश पराधीन हो गया ! ! गुलाम जीवन व्यतीत कर के यहाँ का मानव अपनी भीतरी शक्ति को बिस्मृत

कर बैठा ! पर, अंततोगत्वा सिंह सिंह तो है । वह कब तक बंधन को मधुर माने रहेगा ? यह देश अपने भीतर उस आत्मा को समाहित किये रहता है, जो आत्मा बंधन–मुक्त, ज्योतिर्मय और सच्चिदानन्द है ।

स्वामी विद्याधिराज महराज अपने संपूर्ण जीवन में नैष्ठिक ब्रह्मचारी का तपोमय जीवन व्यतीत करते रहे थे । यद्यपि वे विपन्न परिवार में जन्मे और विपरीत परिस्थितियों में पले तथापि अपनी अदमनीय इच्छा शक्ति से विद्या में पारंगत हो गये थे और आत्म–सिद्धि से सम्पन्न रहे थे । प्रत्यक्ष रूप से स्वामीजी महराज न किसी प्रकार के कर्मकाण्ड के उलझनों में पड़े थे और न सन्यास के बाह्य आचरणों को अपनाते थे । वे एक अर्थ में केरल के कबीर थे । काषायधारी न होकर भी अनेक काषाय धारियों के लिए वन्दनीय गुरुदेव समान थे । वे कवि न थे, पर अनेक कविताएं उन्होंने रची हैं और कवियोंके आराध्य थे । वे किसी भी प्रकार के सामाजिक-धार्मिक मामलों में न फँसे हुए थे फिर भी वे अपने समयुगीन सर्वश्रेष्ठ समाज–सुधारक और धार्मिक चेतन पुरुष थे । परोक्ष रूप से उनका ही नहीं अन्य समाज भी उनके साहचर्य से सुधर गये । हिन्दु धर्म के अनाचार एवं जटिल आचरण-प्रकरण उनकी इच्छा मात्र से सुधर गये–सुलझ गये । इसप्रकार, महात्मा कबीर के लिए जो कहा जाता है कि जितने असंभव उनके लिए माने जाते थे संभव हो सके, उसी प्रकार स्वामी विद्याधिराज महराज के लिए वह लागू हो गया ।

स्वामी विवेकानन्द ने केरल के सम्बन्ध में जो कहा था कि केरल एक पागल खाना है, उसका आशय क्या था ? केरलीय जीवन में दिखाई पडनेवाले अनाचारों और जाति–प्रथाओं को देखकर ही उन्होंने ऐसा मत प्रकट किया था । उस भीषण समाज का थोड़ा सा चित्र प्रस्तुत करना यहाँ संगत मालूम होता है ।

केरल में आर्य ब्राह्मणों का अकाट्य प्रभुत्व चल रहा था । इससे केरल की अपनी द्रविडी संस्कृति की क्षति हो चुकी थी । स्वामी विद्याधिराज महराज ने इस स्थिति को पूर्ण रूप से समझा । उन्हें इस बात पर पूरा विश्वास था कि केरल की प्राचीन द्रविड़ी संस्कृति अपनी प्राचीन नींव पर स्वस्थ रह सकती है । उसका अपना महत्व होता है । यद्यपि उस प्राचीन केरली संस्कृति का पतन आर्य-ब्राह्मणों के द्वारा हो गया हो, तो भी उसका पुनः संरक्षण और उत्थान संभव है, यही स्वामीजी महराज की दृढ़ धारण थी । इसलिए स्वामी जी ने उस अशोभन आर्य-ब्राह्मणों के प्रताप को क्रमशः दुर्बल बनाकर उसी स्थान पर केरलीय संस्कृति को

पनपाने का प्रयत्न किया। केरल में जातियों एवं उपजातियों की संख्या कम नहीं थी। हिन्दुओं में सौ-सौ जातिमों का होना देश के लिए हानिकारक तो है। पुरानी वर्णाश्रम व्यवस्था के स्थान पर अवैज्ञानिक अवर्ण कल्पना और जाति-पांति की जटिलता जोर पकड़ रही थी। इससे उच्च-नीच का भेद-भाव समाज के भीतर अत्यंत भीषण रूप धारण करके समाज का आधार ही हिला दे चुका था। सवर्ण और अवर्ण के बीच का अंतर अतीव बीभत्स रहा था। निम्न वर्ण के किसी व्यक्ति को सवर्ण के दर्शन पथ पर आने का भी अधिकार नहीं था। यदि अवर्ण को देखना पड़ा तो सवर्ण ने उस दोष से मुक्ति पाने के लिए अवश्य स्नान किया होगा। इस प्रकार दर्शन-स्पर्शन के लिए भी वह कभी योग्य नहीं रहा है। करीब एक फरलांग दूरी पर खड़ा होकर ही कोई साधारण अवर्ण सवर्ण 'यजमान' से बोल पाता था। इन अवर्णों को शिक्षा पाने, मंदिर जाने, सुरुचिपूर्ण वेश धारण करने, जूता पहनने आदि का अधिकार नहीं प्राप्त रहा था। इनकी स्थिति ऐसी थी, तो इनकी स्त्रियों की स्थिति के बारे में क्या कहा जाय। वे बेचारी स्त्रियाँ अपनी छाती को वस्त्र से छियाकर रख नहीं सकती थीं। केवल ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के लिए ही स्तन-गोपन का अधिकार रहा था।

इसप्रकार सामाजिक प्रथाओं में अनंत विकृतियाँ जोर पकड़ रही थीं। जहाँ अवर्ण मनुष्य पुस्तक पारायण नहीं कर सकता था, वहाँ उनकी उन्नति का क्या रास्ता खुला पाया जा सकता था ? उनको संघटित कार्य करने में रोक दी जाती थी। अर्थात् यह वर्ग, चाहे यह वर्ग देश की आबादी में नब्बे प्रतिशत क्यों न हो, दासवृत्ति तथा तदनुसार मनोवृत्ति का अधिकारी रह सकता था। आजकल नायर जैसे सवर्ण माने जानेवाले लोग भी इस स्थिति के अधीन रहे थे। इस समाज के भीतर ऐसे असंख्य आचार काम कर रहे थे, जिनसे सर्वण ब्राह्मणों की स्वार्थ-पूर्ति हो रही थी। रजस्वला होने पर लड़कियों को अलग रखकर शुद्धि-कर्म का अनेक दिनों तक आचरण किया जाना, पांच वर्ष की अवस्था में उसका किसी ब्राह्मण द्वारा मंगल-सूत्र-कर्म (केट्टुकल्याणम) कराया जाना आदि अनेक आचरण उदाहरण स्वरूप लिये जा सकते हैं। दाह-कर्म से अनुबंधित कार्यों में कठोर पालन बरता गया था। इन सब के लिए अनावश्यक व्यय होता था। और स्वतःदरिद्र वर्ग का इसप्रकार के सामाजिक पीड़नों में दिवाला निकलता था। फलत: इनका हमेशा दरिद्र रहना स्वाभाविक था।

अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी सभ्यता के प्रचलन से थोड़ा-सा परिवर्तन पढ़े-लिखे लोगों में होने लगता था। फिर भी वह यथार्थ परिवर्तन नहीं था।

अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप एक तीसरे वर्ग का उदय हुआ, जो देश में रहते हुए समाज के अंधविश्वासों एवं रूढ़ि–बंधनों की जड काटने में असमर्थ था। इने–गिने शिक्षित अवर्ण मनुष्य अपनी व्यक्तिगत सुख-समृद्धि को लक्ष्य मानते थे और समाज की रोक तथा रीति के विरुद्ध ऊंगली उठाकर स्वयं लज्जित होना नहीं चाहते थे। राजशासन का युग था। राजा भी पूर्वाचरणों के पाबंद रहे थे। इसलिए राजा अपनी प्रजा के लिए नया नियम बनाने में असमर्थ रहे थे। पुराने नियमों का पालन करना-कराना ही इन्हें भी श्रेयस्कर लगता था। उदाहरण के लिए यदि कोई अवर्ण स्त्री अपनी छाति को छिपाकर रखने की इच्छा से कोई वस्त्र पहनती थी तो तथाकथित आचार–बद्ध कोई पुरुष उस वस्त्र को फाड़ दे सकता था और राजा उस पुरुष के इस अन्याय को नियम–बद्धमानकर चुप रह सकता था!

इन्हीं परिस्थितियों में स्वामी विद्याधिराज महराज को अपनी साधना एवं सन्यास का जीवन व्यतीत करना था। राजयोगी स्वामी जी को अपने लिए किसी भी प्रकार का सुधार–कार्य अनिवार्य मालूम नहीं पड़ा होगा। परन्तु अपने देश की दुस्थिति को कोई आचार्य अथवा संत तटस्थ दृष्टि से देख नहीं सकते थे। हर संत अथवा महात्मा जगत की मंगल–कामना से तरलित हो सकते हैं। इसी तथ्य से होगा कि संत विद्याधिराज महराज भी केरल की मंगलाशा से प्रेरित हुए थे। उन्होंने देखा कि केरल का समाज अपने दूषित आचरणों से घृणित हो चुका है। गतिहीन होकर समाज-जीवन सड़ गया है और वह दुर्गंधमय हो चुका है। मनुष्य स्वधर्म का लक्ष्य नहीं जानता। जानने पर भी उसके अनुसार करने में अपने को बाध्य नहीं करता। वह यह नहीं देखता कि उसका समाज गति–रुद्ध होकर कीड़े–मकोड़े से खाया जा रहा है। उसका उद्धार करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा कोई नहीं समझता था।

स्वामी जी महराज अपने देश की उक्त घृणित दशा से पूर्ण रूप से जानकार रहे थे। फिर भी, ब्रह्मज्ञानी महायोगी समाज–सुधार अथवा समतुल्य व्यापारों में पड़ कर साधारण कर्माधिष्ठित जीवन में कैसे फँसे रहें? स्वामी जी ने कभी अपने को स्वयं गिरा देना नहीं चाहा था। लेकिन अपने मन में स्वदेश की कुत्सित दशा का अवबोध अवश्य लिए चलते थे। शायद, परोक्ष रूप से समाज के शक्तिशाली व्यक्तियों को चेतावनी देने के लिए ऐसे प्रतिष्ठित जनों से वे बराबर संपर्क बनाए रखते थे।

जातीय अंतर को उन्मूलन करने का विचार उन्हें पहले ही था। इसलिए

वे निम्न वर्ण के कतिपय भवनों में भोजन भी किया करते थे । पूछने पर वे चुभता जवाब भी दिया करते थे कि मैं तुम्हारे घर से भोजन करता हूँ, तो कृष्णन और केशवन[1] के घर से क्यों खा नहीं सकता । इसी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्री नारायण गुरु भी पहले से ही स्वामी महराज के आज्ञाकारी शिष्य बने थे । श्री नारायण गुरु को स्वामी जी ने जब अपना शिष्य बनाया, तो मन में उनके द्वारा एक महान् लक्ष्य की पूर्ति की कल्पना की होगी । उनका संकल्प यथार्थ हो गया । जहाँ, स्वामी जी महराज ने गुरु नारायण के साथ भोजन किया वहाँ गुरु नारायण ने उसी संदेश को लेकर प्रचार करने का बीड़ा उठाया । उन दिनों नायर जाति और ईषवा जाति दोनों में स्पर्श भावना कठोर अवस्था में रही थी । नायर ऊँच जाति का और ईषवा नीच जाति का था । ईषवा जाति के घर से कोई नायर व्यक्ति जल भी पी नहीं सकता था । इन दिनों में उच्च वर्णवाले चट्टम्पि स्वामी जी निम्न जाति के नारायण को साथ बिठाकर भोजन किया करते थे । वस्तुत: स्वामी जी के ऐसे निर्भीक एवं दूरदर्शी व्यवहार से आशातीत फल प्राप्त हुआ । स्वयं स्वामी जी ने अपने इंगित से इस प्रथा का दोष मात्र दिखाया बस, पर, शिष्य नारायण गुरु ने उस संकेत को उज्जवल भविष्य के रूप में सफल बना दिया । आगे चलकर श्री नारायण गुरु का "एक जाति-एक धर्म-एक ईश्वर' वाला मंत्र सर्वत्र मुखरित हो गया । नारायण गुरु ने प्रसिद्ध महाकवि कुमारनाशान को अपना आशय सर्वव्यापक बनाने में नियुक्त किया । कविवर आशान ने एक सुप्त-पतित जाति को जगाया और उसमें नवचेतना भर दी । कहने की आवश्यकता नहीं है, कि श्री विद्याधिराज महराज की कामना कितनी पवित्र थी और कितनी शक्तिशाली थी ।

---

1 कृष्णन और केशवन ईषवा जाति के आदमी थे, जो निम्न मानी जाती थी ।

महर्षि विद्याधिराज महाराज की रचनाएं

श्री विद्याधिराज महाराज निष्ठावान राजयोगी थे। आचारों एवं विचारों से वे एक जीवन–मुक्त सन्यस्त महायोगी का जीवन व्यतीत करते थे। वे तांत्रिक एवं अध्यात्म-ग्रन्थों का हमेशा अध्ययन करते रहे थे। जैसे सिद्ध-पुरुष थे वैसे अपने अगाध ज्ञान को अभिव्यक्ति देने में भी अतीव तत्पर थे। उनकी कारयित्री प्रतिभा अद्भुत थी। वे कभी कविता रचते थे, जो वस्तुतः अमूल्य वस्तु थी। लेकिन, उन कविताओं को संकलित करना अथवा उन्हें सुरक्षित रखना तक ज़रूरी नहीं समझते थे। जिस गृहस्थ शिष्य के यहाँ बैठकर कुछ लिखते थे वहाँ छोड़कर चले जाते थे। उनके दो–चार शिष्य कवि कर्म करने में हिचकते थे। उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए स्वयं कविता लिखते थे। इस प्रकार अपने वत्सल गृहस्थ शिष्यों को वे श्रेष्ठ कवि बना सके हैं।

पहले अध्यायों में बताया जा चुका है कि श्री विद्याधिराज महाराज सर्वज्ञ, सर्वकला-वल्लभ और अत्यंत प्रतिभावन थे। आपका उदय केरल अथवा भारत का ही नहीं, अपितु सारे संसार का ही एक महान अद्भुत था। वे संसार में जन्म पाये हुए अनेक महापुरुषों से भी श्रेष्ठ थे। श्रीरामकृष्णदेव, विवेकानन्द, योगी राज अरविन्द, रमण महर्षि जैसे पूज्यपादों के अग्रणि रहे थे। खण्डन करने की उनकी वाक् पटुता संत कबीर दास को भी निस्तेज करनेवाली रही थी। मण्डन करने में वे गोस्वामी तुलसीदास से भी आगे थे। उनका योग–परक ज्ञान एवं अवधारण अरविन्द दर्शन को भी जीतनेवाला रहा है। वेदान्त तत्वों का विश्लेषण एवं व्यख्या करने में वे आचार्य शंकर के ही बराबर थे। इस प्रकार महर्षि विद्याधि राज महाराज बीसवीं सदी की एक महान ऐतिहासिक अपेक्षा जैसे आविर्भूत हुए।

अपने लिए उन्होंने कुछ नहीं लिखा। जैसे संत कबीर दास ने 'साहित्य' नहीं रचा, पर उनका साहित्य आज भारतीय चिन्तन–धारा में सशक्त प्रेरणा–स्रोत है वैसे महर्षि विद्याधिराज की रचनाओं ने अपने और आनेवाले युगों के लिए आधार–शिला का काम दिया है। वे लोगों को कर्मठ, पवित्र, स्वधर्म–निष्ठ एवं उदार बनाने में प्रेरणा देती आ रही हैं।

स्वामी जी की प्राप्त रचनाएं निम्न लिखित हैं।

१) प्राचीन मलयालम   २) जीवकारुण्य निरूपणम्
३) वेदाधिकार निरूपणम्   ४) क्रिस्तुमत निरूपणम्
५) अद्वैत–चिन्ता–पद्धति   ६) निजानन्द विलासम

इन ग्रन्थों की सामान्य चर्चा आगे की जा रही है। यद्यपि आगे की चर्चा से स्वामी जी की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय तो मिलेगा, फिर भी उन ग्रन्थों को यथातथ रूप में समझने के लिए उन्हीं रचनाओं का ही अध्ययन करना पड़ेगा।

स्वामी जी जैसे उग्र व्रती थे वैसे श्रेष्ठ पण्डित भी थे। परम ज्ञानी मुक्त पुरुष होने पर भी विद्याधिराज महाराज अपने आस-पास के जन–जीवन तथा समाज व्यवस्था पर करुणापूर्ण दृष्टि डालते थे और अनेक प्रकार की समस्याओं का विश्लेषण करते थे। यद्यपि वे आत्म–प्रकाश से दीप्त थे फिर भी अपने चारों तरफ के अज्ञानरूपी अन्धकार को पसन्द नहीं करते थे। उन्हें पूरा अनुभव था कि केरल का सामाजिक जीवन अत्यन्त कलुषित तथा विश्रृंखल था। उन्होंने इसका आधारतभूत कारण जानना चाहा। स्वामीजी पुराणग्रन्थों, वेदोपनिषदों शास्त्रों, स्मृतियों एवं संहिताओं के अध्ययन के साथ ही साथ केरल के पुरातन ग्रंथालयों से प्राचीन ग्रन्थों को चुनकर पढ़ा भी करते थे। आपको इसका पता था कि केरल की जनता पहले इतनी निर्वीर नहीं थी। इस देश की संस्कृति ओजस्विनी थी। यहाँ के लोग धर्म–निष्ठ और प्रतापशाली रहे थे।

यह तो कहा जा चुका है कि स्वामी जी महाराज की पैनी दृष्टि वेदान्तों के गहन अध्ययन में ही सीमित नहीं रही थी और वह इतिहास की सच्चाई को भी ढूंढ़नेवाली रही थी। उन्होंने देखा कि केरल में ऐसी झूठी कथाएं प्रचलित हैं, जो देश के गौरवमय इतिहास को निष्प्रभ बनानेवाली हैं। ऐसे दोषपूर्ण प्रचरणों को उसी रूप में छोड़ना देश को और राष्ट्र–जीवन को निर्जीव करना है, यह सोचकर उन्होंने कभी-कभी देश के पुराने गौरवमय सन्दर्भों एवं व्यक्तित्वों का प्रतिपादन करते हुए शोधपरक लेख लिखे। इस लेखन–परम्परा में ‘ प्राचीन मलयालम ’ नामक लेख गहनतम पाण्डित्य की उपज है।

प्राचीन मलयालम

प्राचीन मलयालम केरल प्रदेश की सच्ची पहचान देनेवाली रचना है। स्वामी जी ने इस रचना को प्रस्तुत करते हुए अपने को एक श्रेष्ठ अनुसन्धान वेत्ता के रूप में परिचित किया। उनकी शोधपरक दृष्टि अतीव सूक्ष्म है। उनका समर्थन अकाट्य है। स्वामीजी ने श्री परशुराम से सम्बन्धित केरलोत्पत्ति की कथा को झूठा साबित किया। अनेक उद्धरणों से उन्होंने यह प्रमाणित किया कि केरल का निर्माण परशुराम ने नहीं किया। ऐसा मानना अयुक्तिक, अप्रामाणिक और अयथार्थ है। केरल भूमि स्वयं प्रकट हुई है, जिसके मूल में प्रकृति की सहज शक्ति काम कर सकी है। यहाँ पर्वत निवासी 'नाक' वर्ग के लोग निवास करते थे। वे समुद्र के निकट तक की सस्य-श्यामल भूमि पर खेती करके उसपर सब प्रकार का अधिकार जमाकर रहे। उन्हें शासन करना भी आता था। यही भूमि केरल है। इस भूमि पर 'नाक' वर्ग का स्वत्वाधिकार, अथवा जन्म-सिद्ध अधिकार है। पुराने ज़माने में चौंसठ भागों में सारा केरल बँटा हुआ रहा था और उनके शासक थे 'नाक'। वे सदाचार में आगे थे। वीरता उनकी अपनी पहचान थी। ये नाक श्रेष्ठ शासक और अभिजात कुल के माने जाते थे। इनमें ऐसे महान पुरुष भी जीवित रहते थे, जो त्यागी और योगी भी थे। यह 'नाक' वर्ग की परम्परा आज 'नायर' वंश के नाम से जानी जाती है।

स्वामीजी महाराज ने प्रमाणस्वरूप अनेक ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किये और समर्थित किया कि वह पुराना नाक वर्ग ही आज के 'नायन्मार' हैं। (नायर का बहुवचन शब्द है नायन्मार)। 'नाक' की एक पुरातन लेखा में यों वर्णन है :

'नायन्मारों' के वेष-वर्णन तथा स्वरूप-वर्णन की एक झलक यहाँ दी गयी है: धोती का ब्राह्मणों का जैसा पहनना चित्रित किया गया है। तलवार, जो लड़ाई के लिए काम आती है, पकड़े रहता है। धोती के ऊपर से एक अन्य धोती बान्धी है। खड़ाऊं पाँवों में हैं। तनी हुई मूँछ और कटे हुए सुन्दर बाल हैं। वीरोचित भाषण और छैल-छबीला रूप ! पसीने से तर सुन्दर ललाट। इत्यादि-इत्यादि।

श्री विद्याधि राज महाराज का समर्थन है कि ब्राह्मण जो हैं वे पीछे जीविका खोजते हुए केरल आये। वे यहाँ आकर यहाँ के नायर वंशजों के निर्देशानुसार यहाँ रहते हुए जीवन व्यतीत करने लगे। धीरे-धीरे वे दान स्वीकार करने और उस दान से प्राप्त राशि से भूमि खरीद लेने लगे और इस प्रकार भूमि का मालिक बनकर मालयाळ ब्राह्मणों के रूप में रहते आये। बाद में, लगता है कि नायन्मारों और उक्त मलयाळी-ब्राह्मणों के बीच में मैत्री स्थापित हुई और परस्पर विवाहादि आचारों में सहवर्ती होने लगे। यहाँ एक प्रश्न सहज ही यह उठ सकता है कि ये मलयाली ब्राह्मण कालांतर में कैसे नायन्मारों से श्रेष्ठ माने जाने लगे और उनकी अधीनता स्वीकार करते हुए नायन्मार उनकी मान्यता को सर्वोपरी मानने को क्यों बाध्य हो गये ?

इसका समाधान स्वामी जी देते हैं कि आर्यों का वर्णाश्रम व्यवस्था में कायल होना स्वाभाविक था। प्रथम तीन वर्णों के—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोगों में यज्ञोपवीत संस्कार कायम है। शूद्र यज्ञोपवीत नहीं पहनता। जब आर्य लोगों का केरल में आगमन हुआ तब उन्होंने यहाँ के पूर्व निवासियों को यज्ञोपवीत पहने हुए नहीं देखा। यद्यपि केरलनिवासी लोग यज्ञोपवीत नहीं पहनते थे फिर भी शुचिता, रहन-सहन, स्वत्वाधिकार, कार्य-संचालन-क्षमता आदि बातों में अन्य वर्णों के लोगों के बराबर अथवा उनसे कुछ आगे रहे थे। लेकिन, आर्यों का जब यहाँ पर जम गया तब वे सोचने लगे कि इन यज्ञोपवीतरहित लोगों को किस वर्ण में मान लें। परिणामत: वे यहाँ के लोगों को 'शूद्र' वर्ण में लगाकर मानने लगे। "त्रयोवर्णा: द्विजातय: " अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज हैं, याने यज्ञोपवीत-संस्कार से द्विज बने हुए हैं। इस गणना को न्याय-सिद्ध करके केरल

के नायन्मारों को शून्द्र ठहरा दिया गया। सचाई यही थी। तब भी कतिपय आचरणों में नायर वर्ग को विशेष महत्व दिया जाता था। नायन्मारों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करना और उनके विशिष्ट कर्मों में पौरोहित्य स्वीकार करना इत्यादि कार्य यह सत्य सूचित करते हैं कि आर्य लोग नायर वर्ग को अच्छूत नहीं मानते थे और उन्हें निरादर की दृष्टि से नहीं देखते थे। यदि उनकी दृष्टि में शूद्र माने जानेवाले नायन्मार अमान्य थे तो उनके साथ अन्य वर्ण वाले, विशेषकर ब्राह्मण विवाहादि कार्यों में भाग नहीं लेते। 'स्मृति' के अनुसार जो आर्य शूद्र नारी को प्राप्त करेगा वह चण्ड़ाल से भी पतित हो जायगा। इस प्रकार पतित हुए व्यक्ति को चण्ड़ाल भी अछूत मानता है। ऐसे पतित व्यक्ति को राज–मार्ग से चलने का अधिकार भी नहीं रह जाता। कहने का तात्पर्य यह है, 'स्मृति' आर्यों का नीतिग्रन्थ है। 'स्मृति' को आधार मानकर वर्णाश्रम की व्यवस्था निश्चित की गयी थी और ब्राह्मणादि के सारे आचरण उसी व्यवस्था पर केन्द्रित रहे थे। यहाँ इतना तो मान लेना जरूरी हो जाता है कि 'स्मृति' के द्वारा अनुशासित आर्यों ने जहाँ केरल के नायर वंशजों से विवादि सामाजिक कार्यों में सम्बन्ध स्थापित रखा था वहाँ उनको 'शूद्र' भी नहीं मान लिया था। क्योंकि, वे नायर वंशजों से निकट का संपर्क रखते थे। फिर भी सुविधा के लिए उन्हें भी शूद्र वर्ग में लगाते रहे होंगे।

प्रश्न यह उठता है कि जो शूद्र शब्द निम्न वर्ग के लिए निश्चित रूप से व्यवहृत होता था उसे स्वीकार करने में नायर वर्ग ने क्यों नहीं इनकार किया? प्रश्न स्वाभाविक है। लेकिन, यह 'शूद्र' शब्द मलयालम का अथवा द्रविड़ भाषाओं का नहीं था। शूद्र शब्द संस्कृत का था। जिन दिनों 'शूद्र' शब्द का प्रयोग नायर वंशजों के लिए भी आर्यों द्वारा प्रयुक्त होता था उन दिनों उस शब्द का सही भाव ये नहीं समझते थे। इसलिए उसके विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठी होगी। प्राचीन केरलीय लेखों में 'शूद्र' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं मिलता। तब यह प्रमाण-सिद्ध है कि 'शूद्र' शब्द का प्रयोग यहाँ आर्य-ब्राह्मणों के आगमन के बाद हुआ है। इसप्रकार के शब्द-प्रयोगों का सही रूप से अर्थ समझे बिना उन्हें स्वीकार करके प्रतिपक्ष के प्रति आदर प्रकट करने अथवा सहयोग देने की प्रवृत्ति कायम रही थी। उदाहरण के लिए 'वर्नाक्युलर'

शब्द को लिया जा सकता है। भारत की प्रांतीय भाषाओं के लिए विशेषकर मलयालम के लिए 'वर्नाक्युलर' शब्द का, जिसका आशय गुलाम भाषा से है, प्रयोग कुछ वर्षों के पूर्व तक अंग्रेजों द्वारा हुआ करता था और उस प्रयोग को मान्य समझा जाता था।

महर्षि विद्याधिराज महाराज ने 'प्राचीन मलयालम' संज्ञक ग्रन्थ में केरल के सम्बन्ध में ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये जिनके कारण शूद्रेतर वर्णों के लोगों का क्रोध भभक उठा। राजा की त्योरियाँ चढ़ीं। प्रस्तुत 'प्राचीन मलयालम' ने केरल में बहुत बड़े परिवर्तन की नींव डाल दी।

महर्षि विद्याधिराज महाराज जैसे अनेक विषयों में पारंगत थे और अनेक कलाओं में निपुण थे वैसे वे श्रेष्ठ शोध-वेत्ता थे। उनकी दृष्टि, तटस्थ सूक्ष्म एवं पैनी थी। स्मरण शक्ति अद्भुत थी। उन्होंने वेदान्तपरक तत्वों की जैसे महत्वपूर्ण गवेषणा की और उसके सफल सिद्धान्त प्रस्तुत कर सके वैसे केरल की प्राचीनता और उत्पत्ति तथा महत्व के सम्बन्ध में किये गये शोधकार्य में भी वे नवीन एवं युक्ति-संगत प्रमाण प्रस्तुत कर सके। 'प्राचीन मलयालम' स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य और अनुसंधान करने की उनकी क्षमता के लिए उत्तम दृष्टान्त है। स्वामी जी के बाद जितने गवेषक ख्याति-प्राप्त हुए उनपर स्वामी जी का प्रभाव पड़ा है। 'मलयालप्पेरुमा' संज्ञक ग्रन्थ में जो बाद में प्रकाशित हुआ ऐसे निष्कर्ष हुए हैं, जो प्राचीन मलयालम के निष्कर्षों को समर्थित करते हैं। कहा जाता है कि 'प्राचीन मलयालम' के तीन खण्ड लिखे गये। पर उसका एक खण्ड का ही प्रकाशन हो पाया है। प्रथम खण्ड ही अब प्रचार में है। इस खण्ड में केरल भूमि का उद्भव, विकास, आदिनिवासी प्रारंभिक स्वभाव और भाषारीति पर पूरा विश्लेषणात्मक अध्ययन हो पाया है। इसमे प्रतिपादित वस्तुएं भूत-काल की काली कोठरी में पड़ी हुई थीं, जिन्हें स्वामी जी महाराज अपनी क्षमता से प्रकाश में लाये।

जीवकारुण्य निरूपणम्

स्वामी जी की कृतियों में 'जीवकारुण्य निरूपणम्' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें जीवदया तथा उसके लिए आधारभूत अहिंसा सिद्धान्त के पावन आदर्श का गुणगान है। जीवदया तथा अहिंसा को स्वामी जी ने अपना आदर्श माना था। जीवहिंसा के वे कट्टर विरोधी थे। यहाँ तक कि मत्स्यमांस पकने-वाले घरों से पानी तक न पीने की उनकी निष्ठा थी।

स्वामी जी ने सर्वप्रथम प्रकृति पर विचार किया है। आमिषभोजी तथा अनामिषभोजी के रूपाकार में वे स्पष्ट अन्तर देखते हैं। आमिषभोजियों के नुकीले दाँत ही उन्हें अनामिषभोजियों से पृथक् करते हैं। मनुष्य के चार नुकीले दाँत उसे आमिष भोजी सिद्ध करते हैं। स्वामी जी के विचार में मनुष्य भोजन तथा देवी-देवताओं की पूजा के लिए प्रतिदिन जीवहत्या में निरत है। उनके अनुसार मांसभोजी तथा तथाकथित अनामिष भोजी में कोई अन्तर नहीं है। जीव का मांस खाना तथा उनका दूध पीना दोनों समान हैं। अगर जीव का दूध पी सकते हैं तो मांस खाने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मांस-भोजन से कोई क्रूर होगा, यह मानने केलिए वे तैयार नहीं हैं। साँप वायु-भोजी होकर भी क्रूर है। सस्यभोजी व्यक्ति भी स्वामी जी की दृष्टि में हिंसक है क्योंकि विज्ञान ने चर और अचर दोनों का प्राणदार सिद्ध कर दिया है। इसके अतिरिक्त अपने दैनिक कृत्यों में भी मनुष्य के द्वारा असंख्य छोटे क्षुद्रजीवों की हत्या होती ही रहती है। जीवों द्वारा दुर्बल जीवों की हत्या प्रतिदिन हो रही है। आमिषभोजी लोग बहुधा अपने कार्य को यह कहकर स्वाभाविक सिद्ध करते हैं कि "परमेश्वर ने इन सब को एक ही स्थान पर रखकर इस हिंसावृत्ति का छूट दी है। अत: हिंसा का निराकरण असंभव है। और अहिंसा सिद्धांत का उपदेश देने योग्य कोई अहिंसक इस संसार में है भी नहीं !" —ऐसे युक्तिवाद को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता।

स्वामीजी की मान्यता है कि मनुष्य प्रयत्न करने पर कठिनाई से ही सही, अहिंसा-वादी बने रह सकता है। इसके विपरीत जैसे कुछ लोग मानते हैं, मनुष्य को जीवों की हिंसा करने का अधिकार प्राप्त है तो स्वामी जी की दृष्टि में सिंह-व्याघ्रों को मनुष्य की हिंसा का अधिकार भी मिल जाता है। दूसरे, मनुष्य को खाने वाले सिंह-व्याघ्र अगर 'दुष्ट' हैं तो जीवहत्या में लगे मनुष्य को 'दुष्ट दुष्ट' का विशेषण दिया जाना चाहिए। जानवर बड़ी प्रतीक्षा के उपरांत प्रकृति-प्रदत्त अपने अंगों से जीवहिंसा करते हैं तो यह मनुष्य एक कदम आगे है। इसने जीव-हिंसा के लिए हथियार बनाये हैं और वे चोरी, बलात्कार, भुखमारी आदि के द्वारा भी जीव को पीडा पहुंचाते हैं। अत: स्वामी जी की दृष्टि में हिंस्र जानवर तथा मनुष्य में कोई तात्विक अन्तर नहीं है।

स्वामी जी का कथन है कि हिंसा में दो प्रकार के दोष हैं—प्रथम पीडा पहुँचाना तथा द्वितीय रक्षा के मार्ग को रोकना। यह पीडा मुख्यत: चरों में होती है और रुकावट चर और अचर दोनों को अनुभूत होती है। स्वामी जी की मान्यता है कि प्रलय काल में मूल प्रकृति में लीन वासनाविशेष के अनुरूप ही प्रत्येक जीव अपना शरीर धारण करता है और वे सब परम मोक्ष सुख की कामना से आगे बढ रहे हैं। इस क्रमयात्रा में हम से दर्शित प्रत्येक जीव अपने उन्नत परिणाम के लिए एक-एक स्फुट शरीर को धारण कर जन्म लेता है। इन स्फुट शरीर को अपने परिणाम की पूर्ति के पहले ही विनष्ट कर देने पर फिर उसे इसी स्फुट शरीर का धारण कर कई वर्ष गुजारना पड़ता है। यह उसके लक्ष्य की पूर्ति में रुकावट तथा बिलंब पैदा करता है। अत: यह भी एक प्रकार की हिंसा ही है। इसी को दृष्टि में रखकर महान लोगों ने 'अहिंसा परमो धर्म:' का उपदेश दिया है। सस्य भी जानदार है, इसलिए उसका भोजन भी हिंसावृत्ति के अन्दर आ जाता है। किन्तु सस्य भोजी लोग अहिंसा के कुछ कदम पार कर चुके हुए होते हैं। जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि उनकी यह भोजनवृत्ति भी हिंसान्तर्गत आती है तब वे सूखे पत्ते खाने लगते हैं और कालान्तर में उस वृत्ति से भी बाज आकर केवल जल पीकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वायु सेवन में भी हिंसा है, इसलिए योगी लोग श्वासोच्छ्वास को रोककर परम मोक्ष पद की ओर बढते हैं।

स्वामी जी का पूर्ण विश्वास है कि परमश्रेयस्कर मोक्ष की सिद्धि अहिंसा के मार्ग पर चलकर ही हो सकती है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि संसार के अस्तित्व केलिए अहिंसा अपरिहार्य है। इसप्रकार अहिंसा का तात्विक विवेचन करनेवाली एक महत् कृति है 'जीव कारुण्य निरूपणम्'। यह कृति भी मुद्रित नहीं हो पायी है। हिंसावृत्ति से पीडित हो यातनाएँ सहनेवाले इस संसार केलिए स्वामी जी का यह ग्रंथ पथप्रदर्शक सिद्ध हो सकता है।

वेदाधिकार निरूपणम्

वेद क्या है और वेदाध्ययन का अधिकारी कौन है ? इन प्रश्नों का समाधान देना ही प्रस्तुत ग्रंथ में स्वामी जी का उद्देश्य है। प्राचीन ब्राह्मणों ने वेदों को अपौरुषेय बताकर उनके अध्ययन का अधिकार अपने तक सीमित रखा। ज्ञान पिपासु शूद्रों, स्त्रियों को इसके अध्ययन के अधिकार से वंचित रखकर उन्होंने जघन्य अपराध किया। प्रस्तुत ग्रंथ में स्वामी जी ने निश्चयात्मक स्वर में यह घोषित कर दिया है कि वेद किसी वर्ण की बपौती नहीं है। ज्ञानपिपासु प्रत्येक स्त्री-पुरुष को बिना जाति-भेद के इसका अध्ययन करके अपनी ज्ञान-पिपासा बुझाने का पूर्ण अधिकार है।

स्वामी जी ने सर्वप्रथम वेद के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। श्रौतों तथा प्रपंचवेदियों के पर्याप्त तर्क प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने वेद के स्वरूप तथा उसके पौरुषेय या अपौरुषेय होने के संबंध में गहरा विचार प्रस्तुत किया है। उनकी मान्यता है कि वेद चाहे पौरुषेय हो चाहे अपौरुषेय, उनमें वर्णित उपयोगी तथा ग्राह्य तत्वों को स्वीकार करने में एतराज नहीं होने चाहिए। वेदों के अपौरुषेय होने में स्वामी जी को संदेह है। फिर भी उनकी महत्ता से वे भली-भाँति परिचित हैं। उनकी मान्यता है कि जो बातें पौराणिकों ने अपने दिव्यदर्शन से जानकर बतायी हैं, उनमें से आक्षेपरहित बातों को स्वीकार करना चाहिए। ईश्वरप्रोक्त न होने मात्र से कोई बात उपेक्षणीय भी नहीं है। उनमें जो अच्छी बातें हैं, उनको ग्रहण करना हमारे लिए उपयोगी एवं लाभदायक होगी। वेदों के अपौरुषेय होने केलिए कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होती किन्तु उनके पौरुषेय होने के निमित्त कई प्रमाण प्राप्त होते हैं। प्रत्येक वेद मंत्र के ऋषि के नाम बताये हुए हैं। दूसरे श्री नारद के द्वारा सनत्कुमार से अध्ययन कराने का आग्रह करने पर

सनत्कुमार उनसे पूछते हैं कि उन्होंने अब तक क्या सीखा है। नारद का उत्तर है कि उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन किया है। यह सुनकर उन्होंने छांदोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय की बातें नारद को समझायी थीं। इससे भी स्पष्ट है कि उक्त भाग सनत्कुमार विरचित है। सारांश यह कि वेद के कई अंश विभिन्न समय पर विभिन्न लोगों द्वारा प्रणीत हुए हैं। यही नहीं वेदों की परम प्रामाणिकता पर भी स्वामी जी को शंका है। वेदविहित अश्वमेध, महाव्रत आदि में निर्दिष्ट हीन कर्मों एवं पापाचरणों की ओर संकेत करते हुए स्वामीजी का कथन है कि ऐसे हीन कर्मों का उपदेश देनेवाले श्रुतिग्रंथ अवश्य ही अनादरणीय हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक धर्मानुयायी अपने अपने धार्मिक ग्रंथ को सत्य मानते हैं। इन सभी धर्म ग्रंथों में परस्पर विरोधी बातें बतायी गयी हैं। और ये सभी परस्परविरोधी बातें सत्य नहीं हो सकती हैं। ऐसी हालत में प्रश्न आता है कि आखिर सत्य बात कौन सी है? प्रत्येक धर्मानुयायी–पूर्विकों का मान्यता को आँख मूंदकर स्वाकार करना विवेक की बात नहीं है वह केवल दुरभिमान है। उनमें से अमुक ईश्वर प्रोक्त तथा अमुक मनुष्य प्रोक्त, इसका निश्चय होन तक उनमें से किसी भी बात को ईश्वर प्रोक्त नहीं कहा जा सकता। इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी स्वयं अपने धर्म के प्रति भी अंधविश्वासी नहीं थे। वे युक्तियुक्त एव तर्कानुमोदित बात को ग्रहण करने तथा अन्य को त्याज्य माननेवाले व्यक्ति थे। किन्तु वेद चाहे मनुष्य प्रणीत ही हो, स्वामी जी उनको समुचित आदर दने के पक्ष में है। त्रिकाल–दर्शी पूर्वजों ने अनुभव ज्ञान के आधार पर जो बातें बतायी हैं, उनका आदर करना परम कर्तव्य है, यही स्वामी जी का आदेश है। उनके अनुसार वेद प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाणों में से शब्द प्रमाण पर आधारित है और शब्द प्रमाण इतर प्रमाणों की तुलना में अधम कोटि का है।

वेदाधिकारी कौन है? इसके संबंध में स्वामी जी ने गंभीर विचार प्रस्तुत किया है। यह धारणा प्रचलित थी कि वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन का अधिकार केवल ब्राह्मण को है। क्षत्रिय तथा वैश्य को अध्ययन की छूट दी गयी थी, किन्तु अध्यापन की नहीं। शूद्र को दोनों अधिकारों से वंचित रखा गया। वेदान्त सूत्र के प्रथम अध्याय में वादरायण मुनि ने यह स्पष्ट घोषित किया है कि शूद्र को वेद सीखने का अधिकार नहीं है। भाष्यकार श्री शंकर ने भी इस मत का समर्थन

किया है। किन्तु छांदोग्योपनिषद की जानश्रुति और रैक्व की कथा यह स्पष्ट करती है कि ब्राह्मण ने धन और स्त्री को देख प्रसन्न हो शूद्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अतः उपनिषदों का आधार लेकर स्वामी जी ने बादरायण मुनि तथा भाष्यकार श्री शंकर दोनों के प्रमाद को दिखा दिया है।

वेदाध्यापन के क्षत्रिय के अधिकार का समर्थन करते हुए स्वामी जी बृहदारणक उपनिषद् में गार्ग्य नामक ब्राह्मण के अजातशत्रु नामक राजा से, छांदोग्योपनिषद् में आरुणीपुत्र श्वेतकेतु के प्रवाहण नामक राजा के पास से ब्रह्मविद्या सीखने तथा जनक से शुकमुनि के उपदेश ग्रहण के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और क्षत्रिय के वेदाध्यापन संबन्धी अधिकार को प्रमाणित करते हैं।

ब्राह्मण को ही वेदाध्ययम का अधिकार देने वाली जाबाली सत्यकाम की कथा का उदाहरण देकर स्वामी जी सिद्ध करते हैं कि ब्राह्मणों द्वारा कही जाने–वाली इस कथा का वास्तविक अर्थ दूसरा है। जाबाल सत्यकाम अपनी माता से कहता है—"माँ, मुझे वेदाध्ययन करना है। मेरा गोत्र कौन सा है ?" माता ने उत्तर दिया —"नाहं एतद् वेद, तात, यद् गोत्रस्त्वं असि। बहु अहं चरन्ती परिचारिणी योवने त्वां अलभे। सा नाहं एतद् न वेद, यद् गोत्रस्त्वं असि। जाबाला तु नाम अहं अस्मि सत्यकामो नाम त्वं असी। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति।" अर्थात् मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है। यौवन में परिचारिणी बन भटकती मुझे तू प्राप्त हुआ। मैं नहीं जानती, तेरा क्या गोत्र है। मेरा नाम जाबाला है और तेरा नाम सत्यकाम। इसलिए तू अपने को जाबाला सत्यकाम बता दे।" (छांदोग्य अध्याय ४, खंड ४) सत्यकाम ने हारिद्रुमत गौतम के सामने वेदाध्ययन कराने की प्रार्थना की तो गौतम ने उसका गोत्र पूछा। सत्यकाम ने माता की कही हुई पूरी कथा ज्यों की त्यों बता दी तो गुरु विस्मित हुए—" यह-यह स्पष्ट सत्य—अब्राह्मण तो नहीं कह सकता। तू सत्य से बिचलित नहीं हुआ। तुझे मैं वेदाध्ययन करा दूंगा।" गुरु ने सत्यकाम से शूद्र न होने की सत्यप्रतिज्ञा कराकर उसे शिक्षा दी। गुरु के द्वारा सत्यकाम से सत्यप्रतिज्ञा कराने की घटना से स्पष्ट है कि गुरु के मन म उसके शूद्र होने की शंका थी। उन्होंने सत्यकाम की बात मान ली। अगर उनके मन मे उसकी जाति का निर्णय करके

उपदेश देने की इच्छा होती तो वे उसमे परिचित एकाध ब्राह्मणों से पूछताछ कर सकते थे। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। इससे प्रमाणित होता है कि गुरु के मन में जाति की चिन्ता नहीं थी, 'श्रद्धावान लभते ज्ञानं' के सिद्धान्त को मानकर उन्होंने उसका उपनयन कराया।

शूद्र का वेदाध्ययन का अधिकार ही नहीं, वेदकर्तृत्व भी था, यह सिद्ध करने के लिए एतरेय, कौषीतकी जैसे ब्राह्मणों में उल्लिखित दासीपुत्र कवष की कथा स्वामी जी प्रस्तुत करते हैं। कवष नामक व्याध यागादि में ब्राह्मणों के साथ आदर पूर्वक विराजमान था तथा सूक्त-द्रष्टा के रूप में प्रसिद्ध भी हुआ। इसके अलावा मनुस्मृति आदि के उदाहरण देकर स्वामी जी यह प्रतिपादित करते हैं कि शूद्र को वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन के अधिकारों से वंचित रखने वाली कोई घटना स्मृतियों में नहीं है। अपने कथन के समर्थन में स्वामी जी आपस्तंबसूत्र, जाबाल स्मृति, व्यास स्मृति, पराशर स्मृति, मीमांसाजनक आदि असंख्य प्रामाणिक ग्रन्थों का सहारा लेते हैं।

क्षत्रिय केलिए वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। किन्तु अध्ययन के अधिकार के साथ ही अध्यापन का अधिकार भी प्राप्त था, इस बात के प्रमाण-स्वरूप कई धर्म ग्रन्थों का अवलंब लेते हैं। साथ ही प्रारंभ में वेदाध्यापन का अधिकार मात्र क्षत्रिय का था, इस बात के प्रमाण भी उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। श्वेतकेतु नामक ब्राह्मण युवक अध्ययन की समाप्ति पर प्रवाहण नामक पांचाल नरेश के पास पहुँचता है और राजा उससे पांच प्रश्न पूछते हैं। ब्राह्मण युवक पराजित होकर पिता गौतम के पास पहुँचता है। गौतम राजा के पास आते हैं तो राजा की स्पष्टोक्ति है कि आप के पहले यह विद्या ब्राह्मणों को नहीं मिली थी। यह विद्या समस्त संसार में पहले क्षत्रिय की थी।" यही क्यों गार्ग्य आजातशत्रु से, उद्दालक जैसे ऋषि लोग अश्वपति से, शुक महाराज जनक से ब्रह्मविद्या सीख चुके थे। फिर क्षत्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार क्यों नही ? स्त्रियों तक को वेदा-धिकार से वंचित नहीं रखा गया था, इसके लिए गार्गी, मैत्रेई आदि की कथाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

अपनी अकाट्य युक्तियों, तर्कों के बल पर स्वामी जी ब्राह्मण मात्र के वेदाध्ययन-वेदाध्यापन संबन्धी अधिकारों को तहस-नहस करके यह घोषित करते हैं कि वेद किसी जाति की बपौती नहीं, वे मनुष्य मात्र की संपत्ति हैं। उनके अधिकारी ज्ञान निष्ठावाले समस्त मनुष्य हैं। स्वार्थी तथा ईर्ष्यालु ब्राह्मणों ने अपनी महिमा बढाने, उदर-पूर्ति के मार्ग को सुलभ करने तथा अन्य जातियों की हीनता दिखाने के लिए यह विधान बनाया था कि वेद के अध्ययन-अध्यापन का अधिकार उनका अपना है। स्वामी जी के इस महत् ग्रन्थ से प्रभावित हो साहित्याचार्य श्री सी. एन. गोपाल पिल्लै ने कहा है कि श्रुतियों-स्मृतियों के असंख्य दृष्टांतों, श्रुतिग्रन्थों की अकृत्रिम व्याख्याओं तथा मार्मिक युक्तियों की शक्ति तथा सर्वोपरि प्रतिभा से प्रोज्वल यह ग्रन्थ अत्याकर्षक है।

क्रिस्तुमत निरूपणम्

भारतीय षड्दर्शन तथा विविध धार्मिक संप्रदायों-धर्मसंहिताओं में स्वामी जी का पांडित्य अत्यन्त गहरा था। उन्होंने बाइबिल तथा कुरान का भी गम्भीर अध्ययन किया था। 'सर्वमतसामरस्यम्', कृस्तुमतसारम्, कृस्तुमतनिरूपणम जैसे धार्मिक ग्रंथ उन्होंने लिखे थे। 'कृस्तुमतसारम्' पुस्तक पढने से यह विदित होगा कि ईसाई धर्म ग्रन्थों में स्वामी जी की पहुँच अतिशय गंभीर थी। इसमें ईश्वर के स्वरूप, ईसाई धर्म के अनुसार सृष्टिक्रम, जीवलक्षण, कृत्य, भोग, मोक्षसाधन, दस विधियां, नीतिविधि, क्रियाविधि, पविलात्तकृत्य, निग्रहानुग्रह, मुक्ति जैसे ईसाई अनुष्ठान एवं विश्वासों की समग्र एवं सारगर्भित बातें अत्यन्त विशद एवं क्रमबद्ध रूप में प्रकट की गयी हैं। ईसाई पांडितों तक ने स्वामी जी के ईसाई धर्म संबन्धी अपार ज्ञान एवं विषय-प्रस्तुतीकरण की शैली की मुक्तकन्ठ से प्रशंसा की है।

स्वामी जी सर्वधर्म समन्वयवादी थे, समस्त धर्मों के प्रति स्वामी जी के मन में अपार श्रद्धा थी। फिर भी 'कृस्तुमत निरूपणम्' में स्वामीजी को ईसाई धर्म पर आक्षेप लगाने की नौबत आयी, इसके पीछे कारण रहा। स्वामी जी एट्टुमानूर में रहते आ रहे थे। वहीं ईसाई पंडितों के मुख से इतर धर्मों की, विशेष कर हिंदु धर्म की निन्दा की बातें सुनने का उन्हें अवसर आया। यही नहीं; एक बार एट्टुमानूर मंदिर के सामने से गुजरते समय एक ईसाई पंडित ने स्वामीजी की हँसी उडाते हुए– "यह देखो एक दाढीवाला जा रहा है।" कहकर हिंदु सन्यासियों तथा स्वयं स्वामीजी की भर्त्सना की थी। इस घटना ने स्वामी जी को 'कृस्तुमत निरूपणम्' ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी।

स्वामी जी ने पूर्व पीठिका में इस ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य समझाया है,

जिसके अनुसार भारत में, विशेष कर केरल में ईसाई लोग हिंदु धर्म की निन्दा करते हुए असंख्य हिन्दुओं को अपने धर्म के चंगुल में फँसा रहे थे। पादरियों-धर्म-प्रचारकों ने हिन्दु धर्म की निन्दा को अपना लक्ष्य बना रखा था। वे निर्लज्ज हो जनता में हिन्दु धर्म के विरुद्ध बातों का प्रचार कर रहे थे और लोगों को भटका कर अपने धर्म के जाल में फँसा रहे थे। यह एक शोभन कार्य नहीं था। इससे हिंदुधर्म की बडी क्षति हो रही थी। स्वामीजी से यह अन्याय सहा नहीं गया। वे अपनी शक्ति भर इसका विरोध करने तथा लोगों को बहकाव से मुक्त करने केलिए कटिबद्ध हुए और अन्य हिंदुओं से भी आग्रह किया कि वे इस परि-स्थिति से अवगत हो यथाशक्ति इस दुस्थिति के परिहार का मार्ग खोज लें।

ग्रन्थ के प्रारंभ में ईसाई धर्म के सार तत्वों का प्रतिपादन किया गया है। बाइबिल के आधार पर ही ईश्वर के स्वरूप, जीवलक्षण, जीवकृत्य, जीवभोग, मुक्ति साधन, दस न्याय-विधियाँ आदि का उल्लेख किया गया है। आगे के भागों मे ईसाई धर्म के सारतत्वों को तर्क की तुला पर तोला गया है। ईश्वर सृष्टि की, बाइबिल के इस विचार पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ईश्वर ने अपने स्वार्थ के लिए सृष्टि की क्योंकि बाइबिल के अनुसार सृष्टि के पूर्व जीव का अस्तित्व नहीं था। दूसरे आदि पुरुष तथा स्त्री को जन्म देकर तथा उन्हें एक वृक्ष के फल का खाने से मना कर के यहाँ भूमि पर भेजा गया और वे लोग वृक्ष फल खाकर पाजी बने और उनके कारण उनकी सन्तान-परम्परा भी पापाचारी बन गयी। इन पापियों के लिए अनुग्रह की आवश्यकता पडी। बाइबिल के अनुसार परमात्मा के सारे कार्यों का मूल कारण उसका आनन्दानुभव है। अत: सृष्टि का मूल कारण परमात्मा यहोवा की स्वार्थ भावना ही सिद्ध होता है। लोगों द्वारा उसकी महिमा जानकर उसका प्रकाशत करने केलिए सृष्टि हुई। इसका तात्पय यह हुआ कि सृष्टि पूर्व परमात्मा अप्रकाशित था। अगर पहले से प्रकाशित था तो पुन: उसके प्रकाशित करने का सवाल भी नहीं उठता। स्वामी जी न बाइबिल के आप्तवाक्यों को आधार बनाकर स्पष्ट हीं प्रमाणित किया है कि बाइबिल म व्यक्त किया हुआ परमात्मा तुष्टि, क्रोध के वशीभूत है, अज्ञानी, अस्वतत्र, स्वयं कर्तृत्व रहित, विकार-युक्त है। उसने अपने महत्व के प्रकाशन

केलिए सृष्टि को पापमय बनाया। यही नहीं उसके सारे कृत्य उसके सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी एवं सर्वग्राही होने में बाधक भी हैं। अत: दोषयुक्त यहोवा ईश्वरत्व से वंचित है। वह पाजी है। अहन्ता, कर्म, माया आदि पाशों के कारण ये दुर्गुण होते हैं। इसलिए यहोवा पाशबद्ध सिद्ध होता है। शैवशास्त्र के अनुसार देखा जाए तो वह पशु की कोटि का है। कुछ ईसाई पंडितों के 'अनादि सिद्ध संकल्प' की बात को भी स्वामी जी व्यर्थ, निरर्थक एवं बाइबिल से अनुमोदित नहीं मानते।

आगे बाइबिल के 'शून्य से सृष्टि,' सिद्धान्त का निरसन करते हुए स्वामी जी का कथन है कि कारण के बिना कार्य संपादन असंभव है। उदाहरण के लिए वृक्ष के लिए उपादान है बीज। बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति असंभव है। अगर दैव को ही उपादान कारण माना जाय तो सिद्ध होगा कि इस जड़ चेतन सृष्टि के उपादान कारण स्वरूप दैव भी चेतन-अचेतन युक्त है। किन्तु चेतन-अचेतन नामक दो परस्पर विरोधी धर्म एक ही धर्मी में असंभव हैं। अत: कार्य-कारण संबध का दृष्टि से देखने पर भी यहोवा में दैवत्व का अभाव है।

फिर दैव का आदि मानव को अविवेकी बनाना, उनके सामने व्यर्थ एक वृक्ष को खडा करना, उसके फल खाने से मना करना, फल खाने पर पापी बनाना, उनके इस अपराध के लिए भावी परंपरा को भी पापी बनाये रखना आदि बातें यहोवा को लांछित करती हैं। अविवेकी पुत्र संतान के सामने विष वृक्ष रखने का क्या तात्पर्य होगा? अविबेकी संतान ने उसका विषफल खाया तो दोष क्या यहोवा का नहीं? विषफल खाते हुए मनुष्य को देखते रहना क्या पिता का कर्तव्य है? क्या सतान के इस कृत्य को रोकने का कर्तव्य पिता का नहीं? मनुष्य की शुद्धि को पिशाच ने नष्ट किया, अगर ऐसा कहा जाए तो देवदूतों की शुद्धि को नष्ट करके उन्हें पिशाच बनानेवाले यहोवा स्वयं पिशाच नहीं तो और क्या है? पाप के लिए किसी भी प्रकार से कारणभूत न होने वाले सर्पों को साथ देकर पिशाच, वृक्ष तथा उनके सृष्टि कर्ता दैव का शाप से दूर रहना अनुचित है। सृष्टि के सारे कार्य यहोवा के पूर्वनिश्चय के अनुसार होते रहते हैं। ऐसी हालत में अपने पाप के लिए आत्माओं को दंडित करना महापाप, न्याय-विरुद्ध है और यहोवा की क्रूरता एवं निष्ठुरता का परिचायक है।

असंख्य प्रमाणों के द्वारा स्वामी जी ने यह सिद्ध कर डाला है कि यहोवा दुष्ट, निर्दय, ईर्ष्यालु, क्रोधी, स्तुतिप्रिय सब कुछ हैं। बाइबिल के आधार पर सिद्ध होनेवाले इन दुर्गुणों को ईसाइयों ने छिपा दिया है और ईश्वर में सद्गुणों का झूठा प्रचार कर रखा है। बाइबिल की घोषणा है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप में बनाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर अरूपी न होकर स्वरूपी है। उसने शरीर की नहीं, आत्मा की सृष्टि की, ऐसा मानने का कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि बताया गया हैं कि यहोवा ने मनुष्य को मिट्टी से बनाया और उसमें श्वास फूंक दिया। अब स्वरूप था अर्थ अगर ज्ञान लिया जाए तो प्रकट होता है कि ईश्वर में भी उतना ही ज्ञान का जितना आदि मानव को विष-फल खाने क समय प्राप्त था। फिर नासिका में फूंकने, आदेश देने आदि के लिए ईश्वर का शरीरी होना नितांत आवश्यक है। इसके अतिरिक्त की कई प्रमाण बाईबिल में प्राप्त हैं जिनके द्वारा यहोवा के शरीरी होने की बात प्रकट होती है।

ईसा मसीह के जन्म-मृत्यु की तिथियाँ कहीं का उल्लिखित नहीं है। उनके जन्म के समय एक विशेष नक्षत्र के उदित होने की बात भी किसी भी ज्योतिषी ने कभी नहीं बतायी है। अगर यह मान कर लिया जाए कि ईसा का जन्म हुआ भी था तो भी वे एक साधारण बालक के समान जन्मे थे और अपने किये कृत्यों का फल भोगते हुए सूली पर चढ़ गये। आये स्वामी जी ने यह प्रति-पादित किया है कि ईसा में न सर्वज्ञत्व था न देवत्व। बाइबिल में उल्लिखित कई बातें इस कथन का समर्थन करती हैं। बाइबिल में कहीं भी ईसा ने स्वयं भी अपने को देवपुत्र नहीं कहा है। यही नहीं उनकी बातों पर विश्वास करके कई लोगों को इस संसार में अपार दुखों का भी सामना करना पड़ा। ईसा की पिशाच से परीक्षा की घटना भी उन्हें साधारण कोटि में खड़ा करती है। ईसा का बलि-दान भी बलिदान नहीं कहा जा सकता। अपराध करने से यहूदियों ने उन्हें मार डाला था, अगर अपराध न किया होता तो वे उन्हें मारते भी नहीं थे। अतः बलिदान का सवाल ही नहीं उठता। पाप की निवृत्ति हेतु बलिदान के लिए अगर ईसा का जन्म हुआ था तो यहूदियों के बीच छिपकर रहने की उन्हें क्या पड़ी थी। मृत्यु के उपरांत ईसा के जागरण की कथा को प्रामाणिक सिद्ध करने केलिए न ईसाईयों में से किसी ने ऐसा होते देखा है, न यहूदियों में से किसी ने ऐसा स्वीकार

किया है । जिन मत्ताई, मार्कोस, लूक्कोस, और योहन्नान ने यह बात कही है, उनके कथनों में भी अन्तर्विरोध लक्षित होता है । बाइबिल के मतानुसार अगर यह माना जाए कि ईसा ने समस्त लोगों के पापों को अपने ऊपर ले लिया था तो ईसा के समान महापापी का नरक में जाना स्वयंसिद्ध है ।

स्वामी जी का कथन है कि लोकावसान के समय मृतकों के विचारणार्थ ईसा के आगमन की बात भी युक्ति के अनुकूल नहीं है । प्रश्न उठता है कि विचारणा के पहले जो लोग मर गये वे स्वर्ग–नरक में गये या कहीं और स्थान पर ? कहीं और स्थान पर पहुँचते हैं तो बाइबिल की स्वीकृति कि आदम, अब्रहाम जैसे लोग स्वर्ग में तथा कुछ अन्य लोग नरक में गये, बिल्कुल असत्य सिद्ध होती है । अगर यह माना जाए कि मृतक लोग तत्क्षण ही स्वर्ग या नरक में पहुँचकर सुख-दुख के भोगी बनते हैं तो प्रलय समय की विचारणा ही व्यर्थ सिद्ध होगी । विचारणा के बाद स्वर्गस्थ लोगों को नरक में और नरकस्थ लोगों को स्वर्ग में क्या भेजा जायेगा ? अगर नहीं, तो विचारणा का मतलब ही नहीं निकलता । अत: लोकान्तकाल की विचारणा की बात कपोलकल्पना मात्र है । विचारणा के समय ईसा के मध्यस्थ रहने की बात बतायी गयी है । आत्मा को बिना कर्मानुष्ठान के ही कुछ को सुखभोगी तथा अन्य को दुखभोगी बनाने वाला पक्षपाती मध्यस्थ रहने योग्य नहीं होगा । विचारणा की बात स्वीकार की जाए तो विचारणा का मानदंड क्या होगा । परस्पर विरोधी बातों से परिपूर्ण बाइबिल को आधार मानकर की जानेवाली विचारणा का क्या महत्व हो सकता है ?

ईसा को न माननेवालों को नरकयात्री होने का दन्ड–विधान है तो ससार में कई देश में कई संप्रदाय के लोग हैं, जिन्हें ईसा को न मानने के अपराध पर नरक भोगना पडेगा । फिर जन्म से ही अन्धे, बहरे, विक्षिप्त लोग जो ईसा की महिमा पहचानने में असमर्थ रहे, नरक में जाएँगे । बाइबिल के अध्ययन के उपरांत भी उसे वेदशास्त्र की स्वीकृति न देने वालों की भी बुरी हालत होगी ।

युक्तिपूर्वक देखा जाए तो यहोवा ने आत्मा को, अशुद्धि की तथा विष–वृक्ष की, बिना प्रयोजन की नियंता तथा पिशाच की सृष्टि का और उनकी इस

बुरी सृष्टि के कारण जब पाप फैल गया तब उन्होंने अपने अपराध को अन्यों के सिर मढ़ दिया तथा अपने को रक्षक एवं स्वामी के सिंहासन पर स्वयं प्रतिष्ठित किया। ऐसे व्यक्ति का पाप–पुण्य का निर्णय करने आना अन्याय या अनीति है।

बाइबिल में पिता कहे जानेवाले यहोवा को ईश्वर भी कहा गया है, किन्तु ईसा को देव की संज्ञा नहीं दी गयी है। पिता, पुत्र, पवित्रात्मा को कहीं एक नहीं बताया गया है, वे पृथक् हैं। उनको समान भी नहीं कहा गया है। ऐसी हालत में ईसाई धर्म प्रचारकों की त्रिमूर्ति का सिद्धान्त निरर्थक है। त्रिमूर्ति सिद्धान्त सम्बन्धी समस्त मान्यताओं को न्यायशास्त्र एवं तर्कशास्त्र की तुला पर चढाकर स्वामी जी ने बडे गम्भीर एवं विद्वतापूर्ण ढंग से उनके खोखलेपन को दिखाया है, जहाँ स्वामी जी के शास्त्र संबन्धी ज्ञान के आगे विस्मित होना पडता है।

स्वामी जी बाइबिल की ईश्वर के द्वारा नासिका में श्वास फूँक कर जीवात्माओं की सृष्टि की मान्यता पर हँसी उडाते हैं। जो आत्मा पहले नहीं थी उसकी सृष्टि केलिए निमित्त कारण दिखाई नही देता। अगर निमित्त कारण को अनादि तथा हमारे लिए अविदित कहा जाए तो सृष्टि भी अनादि सिद्ध होती है। बीच में अपने ही स्वरूप में आत्मा के आगमन की बात मान लेने पर ईश्वर का सर्वकर्तृत्व भी नष्ट हो जाएगा।

जीव–जन्तुओं में आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने वाले ईसाईयों की गलत धारणा की स्वामी जी भर्त्सना करते हैं। आत्मा का अस्तित्व ज्ञानबोध के आधार पर निश्चित किया जाता है। यह ज्ञान बोध ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित है। मनुष्य आर जीव-जन्तु में इस दृष्टि से भेद नहीं माना जा सकता। जैसे मनुष्य वैसे जानवर भी ज्ञानेन्द्रियों से युक्त हैं। यही नही मनुष्य के जैसे ही जीव-जन्तु भी प्रजनन, जन्म-मृत्यु, सुख–दुखानुभव, काम–क्रोध आदि के वशीभूत हैं। फिर अगर यह कहा जाए कि सामान्य ज्ञान और विशेषज्ञान को दृष्टिमें रखकर- या छोटे–बडे के भेद को दृष्टि में रखकर जीव-जन्तु में आत्मा के अभाव की बात कही गयी है तो भी वह निराधार है। मनुष्य भी शैशव में, उन्माद की अवस्था

में विशेष ज्ञान को रखे बैठते हैं। शस्त्रक्रिया के समय क्लोरोफोम सूँघने से मनुष्य ज्ञानशून्य रहते हैं। तब भी उनमें आत्मा का अभाव नहीं होता। आत्मा का अस्तित्व छोटे-बड़े पर आधारित नहीं है। जीव-जन्तु मनुष्य के आहार के लिए हैं —यह तर्क भी न्याय संगत नहीं है क्योंकि बाइबिल के दस विधि-विधानों में एक जीवहत्या के विरुद्ध है। अगर यह कहा जाए कि जीव-जन्तु मनुष्य के आहार केलिए सृष्ट हैं तो मनुष्य भी घोर हिंस्र जन्तुओं के आहार केलिए सृष्ट माने जाएँगे। अत: जीव-जन्तुओं में आत्मा के अस्तित्व का निराकरण करने वाली तथा उन्हें मनुष्य के आहार केलिए सृष्ट बनाने वाली बाइबिल को मानकर चलने-वाले मनुष्य पापी हैं।

माता-पिता के पाप का फल संतान-परंपरा को भी-प्राप्त होता है। ईसाई धर्म की इस मान्यता को भी निर्मूल साबित करते हैं। राजा-महाराजा लोग भी अपराधी को ही दंड देते हैं, अपराधी की संतानों को नहीं। किन्तु ईसाइयों का ईश्वर एक आत्मा के पाप का फल अन्य आत्माओं को भी भोगने केलिए बाध्य करता है, जो किसी भी प्रकार के नियम के अनुकूल नहीं है। मनुष्य के पापों को स्वयं अपने ऊपर लेकर ईसा का दंड भोगना भी उपहास्य की बात है। जो अपराध करेगा उसी को दंड भोगना पड़ता है। फिर असंख्य पापियों के पाप का फल ईसा थोड़ी देर में आकर भोग पाते थे तो ऐसे समर्थ व्यक्ति उनके पाप को रोक भी सकते थे। सारे पापों से युक्त ईसा को नरक में जाना था। अगर यहोवा ने उन्हें स्वर्ग में भेज दिया तो यहोवा का पुत्र के प्रति पक्षपात ही प्रकट होता है।

यहोवा को मानने से नित्य सुख प्राप्ति के ईसाई सिद्धान्त को भी स्वामी जी यह कहकर झुठलाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पुण्य के अनुपात में ही सुख भोग सकता है सब लोग समान सुख पा नहीं सकते।

ईसाई धर्मानुयायियों की संख्या उस धर्म की श्रेष्ठता का द्योतक नहीं है। इतिहास साक्षी है कि बल प्रयोग तथा अमानुषिक कृत्यों द्वारा पहले इस धर्म का प्रचार किया गया था जो इस धर्म को स्वीकार करने केलिए तैयार नहीं हुए उन्हें

कई प्रकार की यातनाएँ देकर इस धर्म में मिलाया गया था। अत: मृत्यु भय आशंका के कारण कई लोगों को बिना सोच-विचार के इस धर्म को अपनाना पडा फिर ईसाई पादरियों ने धन, तथा अन्य प्रलोभन की वस्तुएँ देकर भी कई निर्धन लोगों को अपने जाल में फँसाया था और वे आज भी ऐसे फँसाते आ रहे हैं।

सारांश यह कि स्वामी जी का यह ग्रंथ ईसाई धर्म के खोखलेपन को प्रकट करने के साथ ही साथ हिन्दू धर्म को छोडकर इस धर्म की ओर लपकनेवाले क्षणिक सुख के आकांक्षी अज्ञानियो को ऐसा करने के पूर्व ज़रा सोचकर काम करने के लिए विवश भी करता है। क्षणिक प्रलोभनों के वश में पड़कर इस धर्म को अपनानेवाले लोगों को बाद में अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करना ही पडेगा। ईसाई धर्म के संबंध में स्वामीजी का गंभीर ज्ञान अतिशय महत्वपूर्ण है और उनकी तर्किकता तथा स्पष्टवादिता मार्के की है। स्वामीजी ईसाई धर्म की अच्छाइयों-बुराइयों से पूर्णतया अवगत हैं और पथभ्रष्ट लोगों को सचेत करना स्वामीजी का लक्ष्य रहा है। इसमें उल्लिखित बातें ईसाई धर्म के अंधविश्वासियों को निश्चय ही अखरेंगी, किन्तु इन बातों की सच्चाई से वे इनकार नहीं कर सकेंगे। किसी धर्म को, धर्मानुयायी को आहत करना स्वामीजी का उद्देश्य नहीं रहा, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों ने स्वामीजी को इस ग्रंथ-निर्माण की प्रेरणा दी।

अद्वैतचिन्ता - पद्धति

स्वामी जी ने वेदान्त से संबन्धित कई पुस्तकें लिखी हैं। वैदान्तिक तत्वों को सरल एवं सुगम शैली में सामान्य जनता के सामने प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य रहा है। अद्वैत चिन्ता पद्धति एक ऐसी ही रचना है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मूल प्रकृति के साथ ब्रह्म के सामीप्य से त्रिगुणादि की उत्पत्ति, त्रिमूर्त्ति, जीवात्मा, पंचभूत, स्थूल-सूक्ष्म शरीर का उद्भव, प्रलय, प्रपंच की सृष्टि तत्वमसि आदि महावाक्य इत्यादि का यहाँ विस्तृत वर्णन मिलता है। वेदान्त तत्वों को समझने मे यह वृत्ति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

स्वामी जी वेदान्त दर्शन में उल्लिखित अध्यारोपवाद की व्याख्या करते हुए समझाते हैं कि अखण्ड परिपूर्ण सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म में, रज्जु में सर्प, स्थाणु में पुरुष, शुक्ति में रजत या आकाश में कृष्णवर्ण के आरोपित होने के समान मूल प्रकृति विवर्त रूप में चेष्टित होती है। विवर्त की व्याख्या में कहा गया है कि 'अवस्थान्तर भानन्तु विवर्त्तो रज्जुसर्पवत्' अर्थात् एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में भासित होना विवर्त है। मूल प्रकृति से ब्रह्म के सन्निधान से सत्व रज, तमोगुण की उत्पत्ति होती है। इनमें सत्व उत्तम, रज मध्यम तथा तम अधम होता है। इन गुणों के भी पुन: तीन-तीन भेद किये जाते हैं जैसे सत्व में सत्व, सत्व में रजस् और सत्व में तमस् आदि। सत्वगुण के समष्टि भाव को माया, रजोगुण के समष्टि भाव को अविद्या तथा तमोगुण के समष्टि भाव को तामसी कहते हैं। सत्व में सत्व से विष्णु, सत्व में रजस् से ब्रह्म तथा सत्व में तमस् से रुद्र का आविर्भाव हुआ। आकाश से उपमा करने योग्य ब्रह्मचैतन्य उपयुक्त सभी गुणों में प्रतिफलित होता है। सत्व गुण में प्रतिबिंबित ब्रह्मचैतन्य को ईश्वर नाम है।

सत्वगुण ईश्वर का कारण शरीर है। इसे ईश्वर की सुषुप्तावस्था भी कहा जाता है। इस कारण शरीर को 'मैं' समझने वाले ईश्वर के ईश्वर, अव्याकृत, और अन्तर्यामी ये तीन नाम हैं। विष्णु जगत् के पालन, ब्रह्मा सृष्टि तथा रुद्र संहार के कार्य म निरत हैं। मलिन जल मे सूय के समान अविद्या में ब्रह्म चैतन्य मलिन रूप में प्रतिबिंबित होता है। इसी प्रतिबिंबित चैतन्य को चिदानन्त (जीव) की सज्ञा दी जाती है। अविद्यामय कारण शरीर में 'मैं' की भावना रखनेवाले जीव के प्राज्ञ, पारमार्थिक और अविच्छिन्न ये तीन नाम हैं। जीव तीन प्रकारके गुणों में स किसी भी प्रधानता के आधार पर सत्व, रज या तमोगुणप्रधान होता है।

ईश्वर की मायामय इच्छा के हेतु तमोगुण आवरण एवं विक्षेप नाम की दो शक्तियों में विभक्त रहता है। अज्ञान को आवरण तथा ज्ञान या नानात्व बोध को विक्षेप कहते हैं। आवरण शक्ति ही जन्म-मरण की यातनाओं केलिए उपादान बनती है। विक्षेप शक्ति ही तन्मात्राओं केलिए कारण स्वरूप है। पंच-तन्मात्राओं के सात्विक समष्टि भाग स्वरूप पाँचों अंत:करण तथा सात्विक व्यष्टि भाग स्वरूप ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-साधन हैं। स्वामी जी के अनुसार अंत:करण भी पंजभूतात्मक है। पंच ज्ञानेद्रिय, पच कर्मेंद्रिय, पंच प्राण, मन तथा बुद्धि चित्त, अहंकार और ज्ञान इसप्रकार बीस तत्वों को सूक्ष्म शरीर कहा जाता है।

समष्टि स्थूल शरीर को 'मैं' समझने वाले ईश्वर को विराट, वैश्वानर, वैराजक ये तीन नाम दिये जाते हैं। स्थूल शरीर में 'अहं' भाव की अवस्था ही जाग्रतावस्था है।

स्थूल शरीर के निद्रा, मूर्च्छा और मृत्यु नामक तीन प्रलय होते हैं। यह स्थूल शरीर पदे पदे उत्पन्न एवं नष्ट होता है। किन्तु सूक्ष्म शरीर कारण शरीर के रहने तक अपना अस्तित्व बनाये रहता है।

अखण्ड ब्रह्म रूप चैतन्य प्रकाश में असत् रूपी जीव केवल दृश्य (आभास) है यह समझने वाला ही ज्ञानी है।

ब्रह्म तथा जीवन-जगत का भेदभाव अज्ञान की उपज है। इस भेद का

खडन करके वास्तविक स्थिति से परिचित करना ही अपवाद युक्ति है। यह चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को प्रकट करनेवाला साधन है। यही यह स्पष्ट दिखाती है कि स्थूल शरीर, गुणत्रय, अहकार, मूलप्रकृति आदि कुछ नहीं, सब अखण्ड सच्चिदानंद स्वरूप ही हैं। इस रहस्य को समझने केलिए ज्ञानाचार्य के अनुग्रह रूपी नेत्र तथा महात्माओं के अनुभूति शास्त्र रूपी दीपक की आवश्यकता है। माया म सत्व के प्रधान होते हैं। उसमें प्रतिबिंबित त्रिमूर्ति स्वकारणभूत सत्वगुण म लय हो जाते हैं। अंत में एकमेवाद्वितीय परब्रह्म ही प्रकाशित होते हैं। उस परब्रह्म स परे अन्य कोई वस्तु नहीं। अपने को स्वयं परब्रह्म मान लेना ही कैवल्यप्राप्ति का साधन है।

'शरीर तत्व संग्रह' में स्थावर–जंगम भूतों के आविर्भाव पर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्म चैतन्य देशस्थ मूल प्रकृति की चेष्टा से पंचभूत में परिणत होते हैं तथा पचभूत ही चराचर जगत में परिणत हुए हैं। पंचभूतात्मक पिण्डाकार शरीर ही इस प्रपंच कल्पना केलिए कारण है। शरीरस्थ श्वासवायु ही शरीर की रक्षा करती है। यह श्वास की ऊर्ध्वमुख एवं अधोमुख गति है जिसके अनुसार यह मूलाधार से कपाल को ओर कपाल से मूलाधार को पहुँचाती है। यह श्वास ही शरीर का स्वस्थ रखती है। इसका दुर्विनियोग नहीं होना चाहिए। आगे स्वामीजी ने 'प्राण एव मन: मन एवं प्राण:' के प्रमाणानुसार अन्त:करण वृत्तियों को भी वायु ही मान लिया है। इस अंत:करण के स्वभाव रूप मन, बुद्धि, चित्त और अहकार की व्याख्या की गयी है।

सुख-दुखावस्थाओं का अनुभव करने केलिए अंत:करण की सहायता करते हुए ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी पाँच वस्तुएँ अपने नियत स्थानों पर दर्पण जैसे शरीर में शोभित होती हैं। इनमे अंत:करण के प्रवेश से ही वे अपना कार्य कर पाती हैं। ये इन्द्रियाँ केवल वर्तमान का ही अनुभव कराती हैं, भूत-भविष्यत् का नहीं। सुषुप्ति की अवस्था मे अन्त:करण के लय के हेतु इन्द्रियाँ काम नहीं कर पातीं। इन्द्रियों को निष्क्रिय बनाने केलिए अन्त:करण को वश में करना आवश्यक है। यही आत्मनिष्ठा है। इस अवस्था में सच्चिदानंद का अनुभव प्राप्त होता है।

शरीर में जल, अग्नि और वायु के स्वभाव से युक्त श्लेष्म, पित्त और वात रूपों में तीन और वस्तुएँ हैं जो क्रमश: सृष्टि, स्थिति संहार कारक हैं। शरीर विपत्तियुक्त हैं और इसे जाग्रत हो सुरक्षित रखना पड़ता है। इसके दुख नारकीय हैं और यह दुर्गंधयुक्त है। अत: शरीर संबन्धी विषय वासनाओं में मन को व्यापृत न रखकर तत्वज्ञान को प्राप्त कर सद्गति पाना ही इस जन्म का लक्ष्य होना चाहिए।

आगे स्वामीजी ने जगत् के मिथ्यात्व तथा ब्रह्म साक्षात्कार पर गंभीर विचार प्रस्तुत किया है।

सत् और असत् का लक्षण बताते हुए स्वामी जी ने बताया है कि सत् वही है जो कालातीत है। तीनों कालों में अस्तित्व सत् का लक्षण है। प्रपंच इसलिए असत है कि उसकी उत्पत्ति, और नाश होने के कारण उसका चिरन्तन अस्तित्व नहीं होता। इस असत् को अनृत् या मिथ्या नाम है। असत् दो प्रकार का है–एक वह है जो नाममात्र है और दूसरा नाम रूपात्मक, किन्तु अर्थहीन है। नाममात्र असत् किसी को अनुभव नहीं होता। नाम रूपात्मक सत् केलिए रज्जुसर्प उदाहरण है। रज्जु कारण है और सर्प कार्य है। यह कार्य अर्थ रहित है, किन्तु इसकी प्रतीति होती है। रज्जु के यथार्थ ज्ञान के अभाव में ही सर्प का मिथ्याबोध होता है। यथार्थज्ञान के होते ही रज्जु में सर्प की प्रतीति नष्ट होती है। अर्थात् कार्य न रहकर केवल कारण रह जाता है। इसे विवर्तवाद कहते हैं। कारण स्वरूप में किसी परिवर्तन के बिना ही कार्य की प्रतीति विवर्तवाद है। प्रपंच तीन अवस्थाओं के द्वारा हमे प्रतीत होता है। वे अवस्थाएं जाग्रत् स्वप्न–सुषुप्तावस्थाएँ हैं। जाग्रत अवस्था में अनुभूत प्रपंच स्वप्न–सुषुप्ति में नष्ट होती है वैसे ही स्वप्न-सुषुप्ति में अनुभूत प्रपंच जाग्रत अवस्था में नहीं रहता। अत: अवस्थात्रय रूप में भी अनुभूत यह प्रपंच असत् है। वास्तव में यह प्रपंच ब्रह्म का विवर्त है जिसकेलिए कारण माया है। रज्जु में सर्प के समान यह प्रपंच ब्रह्म में कल्पित है इसलिए असत् है। यह कल्पना या प्रतीति अज्ञान की उपज है। नाम रूपात्मक असत् के भी दो प्रकार हैं—प्रथम कारण को जानते ही प्रतीति नष्ट होनेवाला तथा द्वितीय कारण को जानने पर भी प्रतीति नष्ट न होनेवाला। प्रपंच द्वितीय श्रेयी में

आता है। कारण स्वरूप ब्रह्म के जान लेने पर भी प्रारब्धवश उसका ज्ञान होता रहता है। उस अवस्था में भी ज्ञानी लोग उसे असत् जान लेते हैं।

सत्ता एक ही है, किन्तु व्यवहार में उसके पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक—ये तीन भेद स्वीकार किये गये हैं। स्वतंत्र, अपरिवर्तनशील, चिरंतन सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है। व्यवहार के समय अपरि-वर्तनशील रहनेवाला यह व्यावहारिक सत्ता का उदाहरण है। 'रज्जुसर्प' प्राति-भासिक सत्ता है। 'रज्जु सर्प' की प्रातिभासिक सत्ता रज्जु के अनुभव में, रज्जु की व्यावहारिक सत्ता उसकेलिए कारण स्वरूप पारमार्थिक ब्रह्मसत्ता के अनुभव में असत् हो जाती है। इस प्रसंग में स्वामी जी ने पर्याप्त उदाहरणों तथा तर्कों द्वारा प्रपंच संबन्धी असत् कार्यवाद, सत्कार्यवाद, अजातवाद, परमाणुकारणवाद, आदि की निरर्थकता सिद्ध की है।

जगत जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति-इन तीन अवस्थाओं में जाना जाता है। इनमें से एक का अनुभव होते समय अन्य दोनों का अनुभव नहीं होता। किन्तु इन तीनों के साक्षीस्वरूप कोई सत्ता है जो साक्ष्य प्रपंच से विलक्षण है। यही साक्षी स्वरूप सत्ता स्वप्न प्रपंच को प्रकाशित करती है और उसकी याद जाग्रत में पैदा करती है। प्रत्येक प्रपंच त्रिपुटि रूप में रहता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का सम्मिलित रूप ही त्रिपुटि है। तुरीय भाव में जाग्रत ज्ञानी स्वप्न सुषुप्ति और जाग्रत प्रपंच को असत् जानता है। तीन अवस्थाओं में प्रतिभासित, जगत् केलिए अधिष्ठाता तथा साक्षी स्वरूप कूटस्थ ब्रह्म चैतन्य को ही उपनिषद तुरीय कहते हैं। यह तुरीय अदृष्ट, अग्राह्य, अचिंत्य, एकात्म, शान्त, शिव अद्वैत है। इसी को आत्मा कहते हैं। यह तुरीय नेत्र केलिए अदृष्ट, बुद्धि केलिए अग्राह्य है। शान्त और शिव शब्द इस तुरीय को निर्विकारता एवं आनंद की व्यंजना करते हैं। यह तुरीय स्वयं प्रकाशित तथा अन्य को प्रकाशित करनेवाला होता है। तुरीय आत्मा सत् है। इस सत् को जीव अज्ञानवश समझ नहीं पाता। अज्ञान के दूर होते ही नामरूप मिटकर सच्चित् परब्रह्म का प्रकाश होता है। समाधिस्थ अवस्था मे जीव को बाह्य प्रपंच का प्रकाशन नहीं होता, वह ब्रह्मानुभव पाता है। सुषुप्ति और समाधि भी भिन्न हैं। सुषुप्ति में स्थूल प्रपंच का प्रकाशन नही होता, पर उसके

लिए बीज रूप अविद्या का अनुभव होता है। अत; कारण रूप में प्रपंच सुषुप्ति में विद्यमान है। यह अविद्या ही प्रपंच का कारण है। इसलिए अविद्या का दूसरा नाम कारण प्रपंच भी है। किन्तु समाधि में स्थूल प्रपंच, सूक्ष्म प्रपंच या कारण प्रपंच प्रकाशित नहीं होता।

समाधि के सविकल्प एवं निर्विकल्प दो भेद हैं। गुरुमुख से 'तत्वमसि' महावाक्य का श्रवण करके 'अहं ब्रह्मास्मि' का निरंतर ध्यान करनेवाले मुमुक्षु की अवस्था ही सविकल्प समाधि है। इसमें 'मैं' ध्याता तथा ब्रह्म ध्येय है। इस समाधि का चरमसीमा में 'अहं ब्रह्मास्मि' का ध्यान किये बिना ही चित्तवृत्ति ब्रह्म स्वरूप हो जाती है। निर्विकल्प समाधि में प्रपच का ज्ञान ही नहीं होता। वहाँ ब्रह्म मात्र प्रकाशित होता है। निर्विकल्प समाधि में जीव को यह प्रतिभासित होता है कि वह सच्चिदानंद भाव में वर्तमान था और अब भी ब्रह्मानंद स्वरूप ही है। ऐसे ही ज्ञानी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ईशावास्यमिदं सर्वं' की अनुभूति प्राप्त करते हैं।

अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए स्वामी जी आगे कहते हैं कि ब्रह्म और प्रपंच पृथक् नहीं हैं। ऋषियों ने दोनों को एक सिद्ध किया है। किसी वस्तु में उससे भिन्न धर्म का आरोप ही अध्यारोप है। इसका कारण अज्ञान है। रज्जु में सर्प का आरोप अज्ञान से होता है। ब्रह्म बोध होने तक अज्ञानी जीव को आरोपित यह प्रपंच सत्य सा लगता है। जीव के अविद्या से उत्पन्न अनर्थों का निराकरण करने के निमित्त शास्त्रों में प्रपच की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकृति देकर सृष्टि-क्रम का वर्णन किया गया है। उपनिषदों मे ब्रह्म को प्रपंच का उपादान कारण मानते हुए सृष्टि क्रम का वर्णन किया है।

ब्रह्म का विवर्त और अविद्या का परिणाम ही यह प्रपंच है। व्यावहारिक दृष्टि से वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म को कारण और प्रपंच को कार्य स्वीकार किया है। ब्रह्म से विवर्त स्थूल सूक्ष्म प्रपंच को तत्कारणों में विलीन करके सब को ब्रह्म में अवस्थित दिखाने की क्रिया ही अपवाद है। यही ब्रह्म के सत् रूप तथा प्रपंच के मिथ्यात्व का बोध कराता है।

अज्ञान तथा उससे उत्पन्न कार्य ज्ञान से ही दूर होते हैं । ब्रह्मज्ञान के उदय के साथ ही आरोपित प्रपंच ब्रह्म में विलीन हो जाता है । अविद्याजन्य माया मिथ्या ही है । माया ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि ब्रह्म निस्संग सत्ता है । वह निर्विकार हैं । माया किसी वस्तु से उत्पन्न नहीं, इसलिए वह अनादि कही जाती है ।

स्वामी जी का कथन है कि मात्र शास्त्राध्ययन से अज्ञान दूर नहीं होता; विवेक, वैराग्य, शम, दम, जैसे गुणों को पाकर तथा गुरु के मुख से प्राप्त वेदान्त वाक्यों पर मनन-चिन्तन कर ब्रह्म साक्षात्कार से ही मन के संशय दूर हो सकते हैं । यह ब्रह्म साक्षात्कार ही जीव का परम लक्ष्य है ।

आगे 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के तात्पर्य पर शब्दशक्ति को दृष्टि में रखकर विस्तार से विचार किया गया है और दिखाया गया है कि 'त्वं' शब्द का वाच्यार्थ अशुद्ध तथा लक्ष्यार्थ ज्ञान स्वरूप एवं कूटस्थ चैतन्य को व्यंजित करने से शुद्ध है । अत: अशुद्ध रूप कार्योपाधियों का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है । जाग्रत स्थूल शरीर तथा विश्वादि अभिमान 'त्वं' पद का अर्थ नहीं है । सूक्ष्म शरीर वाली स्वप्नावस्था तथा कारण शरीर वाली सुषुप्तावस्था भी 'अहं' का द्योतक नहीं है । अत: 'त्वं' स्थूल सूक्ष्म कारणान्तर्भूत अवस्थात्रय से विलक्षण साक्षी रूप में प्रकाशित तुरीय रूप ज्ञान ही 'त्वं' का प्रतिपाद्य है । 'अवस्थात्रय केलिए साक्षीभूत ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ' इस अनुभूति को निदिध्यासन कहते हैं । सगुणोपासना द्वारा देव-प्रसाद पाकर तथा राजयोग से मन के विक्षेप को हटाकर 'त्वं' पदार्थ को श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा अन्तर्मुख स्वरूप समाधि में अनुभूत करना चाहिए । उपर्युक्त वाक्य में 'तत्' का वाच्यार्थ सोपाधि ईश्वर है तो लक्ष्यार्थ निरुपाधि ब्रह्मचैतन्य से है । सोपाधि ईश्वर अशुद्ध है और निरुपाधि ब्रह्म शुद्ध है । अपने को सर्वज्ञ, सर्वकारण, सर्वान्तिर्यामी, सर्वेश्वर, सर्वस्रष्टा, सर्वस्थिति-कर्ता, सर्वसंहारक माननेवाला ईश्वर अशुद्ध है क्योंकि इस अवस्था में ईश्वर उपाधियों से युक्त रहता है । इन बातों को मिथ्या समझकर उनकेलिए साक्षी रूप हो स्वयं प्रकाशित ब्रह्मचैतन्य ही 'तत्' पद लक्ष्यार्थ रूपी ईश्वर का शुद्ध रूप है । उपर्युक्त सात कारणोपाधियाँ ईश्वर की जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाएँ हैं । इन

अवस्थाओं के विलयन से तुरीयास्था में साक्षीभूत हो प्रकाशित शुद्ध चैतन्य ही ब्रह्मचैतन्य है। यही मानना तत् पदार्थ मनन है। तत् पद श्रवण-मनन से प्राप्त शुद्ध ब्रह्मानुभूति ही निदिध्यासन है। 'असि' के भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ होते हैं। सत्‌चित् आनंद नामक तीन उपाधियों को त्यागकर उनकेलिए साक्षी बन प्रकाशित चैतन्य ही शिवपद लक्ष्यार्थ रूप 'असि' की शुद्धावस्था है। अतः तत्वमसि के लक्ष्यार्थ स्वरूप अवाङ्‌ मनो गोचर एवं अखण्ड परिपूर्ण सत्ता मात्र स्वरूप शुद्ध शिव ही मैं हूं, ऐसा समझकर स्वरूप ज्ञान के उदय से जीवनमुक्त हो स्वयं प्रकाशित होना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है।

'चतुर्वेदमहावाक्य' शीर्षक में वेदों की महत्ता तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में उनमें बताये गये सिद्धार्थ बोधकों की उपयोगिता पर विचार किया गया है। ये ब्रह्मैक्य की ओर संकेत करते हैं इसलिए इन्हें वेदान्तवाक्य भी कहते हैं। वेदान्त वाक्य ब्रह्मभाव को छिपानेवाली अविद्या का उपनिषादन (नाश) करते हैं जिस कारण इन्हें उपनिषद् संज्ञा भी दी जाती है। उपनिषद वाक्यों में 'प्रज्ञानं ब्रह्म', अहंब्रह्मास्मि, तत्वमसि तथा अयमात्मा ब्रह्म—ये चार वाक्य अतिप्रधान हैं। 'प्रज्ञान ब्रह्म' जीव-ब्रह्म का लक्षणवाक्य, 'अयमात्मा ब्रह्म' जीव के प्रत्यक्ष विषय बताकर स्वरूप साक्षात्कार वाक्य, 'तत्वमसि' गुरु का उपदेश वाक्य तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' शिष्य का अनुभव वाक्य है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऐतरोपनिषद् का वाक्य है। ऋषि-मुनियों ने संसार निवृत्ति की इच्छा से प्रेरित हो यह प्रश्न किया था कि हम जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह आत्मा कौन है? इस प्रश्न रूप चिन्ता के फलस्वरूप उत्पन्न अनुभूति ही 'प्रज्ञानं ब्रह्म' है। इस वाक्य में आये प्रज्ञान तथा ब्रह्म दो शब्द हैं जिनका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ को समझना आवश्यक है। प्रज्ञान का वाच्यार्थ है जीवन्। अंतःकरण में प्रतिबिंबित आत्म-चैतन्य ही जीवन् है। यह प्रतिबिम्ब बिंब और उपाधि का सम्मिलित रूप है। इसलिए जीवन साक्षी, चैतन्य तथा अंतःकरण रूपी उपाधि का सम्मिलित स्वरूप ही है। ज्ञानस्वरूप कूटस्थ चैतन्य अंतःकरण के अहंकार में प्रतिबिंबित हो उससे मिलकर रहता है। प्रज्ञान पद के वाच्यार्थ जीवन को हटाकर निर्विकार ज्ञान स्वरूप कूटस्थ चैतन्य को समझते ही प्रज्ञानपद का लक्ष्यार्थ हुआ। स्थूलसूक्ष्म समस्त चराचरों में

जो चैतन्य पूर्णरूप में निवास करता है वही ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ है । सर्वभूतों से अलग उनकेलिए साक्षी स्वरूप एवं विलक्षण सर्वत्र अनुस्यूत तथा मायातीत हो प्रकाशित परमात्म चैतन्य ही ब्रह्म का लक्ष्यार्थ है । कूटस्थ चैतन्य, प्रज्ञानं, ब्रह्म ये सारे शब्द सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म की ओर संकेत करते हैं ।

'अहं ब्रह्मास्मि' यजुर्वेदान्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् का है । इसमें अहं, ब्रह्म, आस्मि ये तीन शब्द हैं । अहं पद का वाच्यार्थ जीवन तथा लक्ष्यार्थ कूटस्थ चैतन्य है । देशकालातीत परिपूर्ण चैतन्य ब्रह्मविद्या के अधिकारी मनुष्य की बुद्धि केलिए साक्षीभूत हो हृदय–कमल में 'अहं अहं' का स्मरण करता है, इसलिए कूटस्थ चैतन्य का अहं नाम पडा । अहंकारवृत्ति से युक्त जीवन ही अहं पद का वाच्यार्थ है । इस वाच्यार्थ को छोड़कर कूटस्थ चैतन्य को समझना ही उसका लक्ष्यार्थ है । ब्रह्म शब्द का लक्ष्यार्थ पहले ही बताया जा चुका है । 'अस्मि' पद अहं के लक्ष्यार्थ कूटस्थ चैतन्य तथा ब्रह्म पद के लक्ष्यार्थ निरुपाधि ब्रह्मचैतन्य की एकता को लक्ष्य करता है ।

तत्वमसी छांदोग्योपनिषद् का वाक्य है । उद्दालक मुनि श्वेतकेतु को समझाते हैं कि नामरूपात्मक यह प्रपंच पहले एक और अद्विदीय ब्रह्म मात्र था । इस जगत केलिए कारणभूत एवं सूक्ष्मभूत जो तत्व है वही इस जगत् के रूप में भासमान है । वही सत्य है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है । हे श्वेतकेतु, तू ही आत्मा है । तत् पद का वाच्यार्थ ईश्वर तथा त्वं का वाच्यार्थ जीवन है । सर्वज्ञ ईश्वर तथा किंचित् ज्ञानवान जीव को एक मानना असंगत है, इसलिए इन शब्दों का लक्ष्यार्थ कूटस्थ चैतन्य तथा ब्रह्म समझना चाहिए । ये दोनों एक ही हैं यही 'असि' पद का संकेत है ।

'अयमात्मा ब्रह्म' अथर्व वेदान्तर्गत माण्डूक्योपनिषद् का है । इस का अर्थ है 'यह आत्मा ब्रह्म है ।' यहाँ भी आत्मा और ब्रह्म का लक्ष्यार्थ ही लेना चाहिए । अयं शब्द प्रत्यक्ष विषय की ओर संकेत करता है । इसलिए 'अयमात्मा प्रत्यक्ष रूप सा लगता है । किन्तु आत्मा दृश्य या जड़ नहीं है । वह अदृश्य या परोक्ष भी नहीं है । जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं में सूक्ष्म-स्थूल शरीर बनते-बिगडते

रहते हैं। तब भी बिना किसी परिवर्तन के सब के अधिष्ठान एवं साक्षी बन अपरोक्ष रूप में प्रकाशित कूटस्थ चैतन्य ही यहाँ आत्मा का लक्ष्यार्थ है। ब्रह्म शब्द सच्चिदनंद स्वरूप ब्रह्म का वाचक है। अतः प्रस्तुत वाक्य भी आत्मा तथा ब्रह्म की एकता सिद्ध करता है।

इसप्रकार उपर्युक्त चारों वेद वाक्य आत्मा तथा ब्रह्म की एकता प्रमाणित करते हैं। आचार्य के मुख से इन महावाक्यार्थों को ग्रहण कर जीव आत्मज्ञानी बन जीवन्मुक्ति की दशा में पहुँचकर कृतकृत्त बनते हैं।

श्रुतिसार वाक्य प्रकरण में भी वेद प्रतिपादित अद्वैत को ही सिद्ध किया गया है। 'प्रपंचस्वरूपं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'भावाभावातीतं ब्रह्म' 'स्वानुभावातीत ब्रह्म' ये चार श्रुतिसार महावाक्य हैं। प्रथम वाक्य में यह बताया गया है कि प्रपंच ब्रह्म ही है। स्वामी जी ने परिणामवाद, वृत्तिवाद, नित्यत्ववाद आदि का निरसन करके विवर्तवाद को प्रपंच का कारण बताया है, द्वितीय वाक्य के अनुसार ब्रह्म एक और अद्वितीय है। शेष सबकुछ मरुमरीचिका के समान मिथ्या हैं। तृतीय वाक्य ब्रह्म के विकाररहित होने की ओर संकेत करता है। ब्रह्म भाव और अभाव के परे है। चतुर्थ वाक्य घोषित करता है कि ब्रह्म स्वानुभवो से परे है। उपर्युक्त चार महावाक्य एक मात्र ब्रह्म की सत्ता की घोषणा करते हैं और इस भासमान प्रपंच को माया फल या मिथ्या मात्र समझते हैं। माला में मणियो के समान सब में एक मात्र ब्रह्म की व्याप्ति की कल्पना करने तथा उसका आभास करने पर जीव को स्वयं अनुभव होगा कि विश्व उसी में समाविष्ट है। 'ब्रह्मोहं' का बोध जोवनमुक्त की अवस्था है। इस बोध से युक्त व्यक्ति ही जीवनमुक्त है। यही परम आचार्यों का संदेश है।

मनोनाश ही शुद्ध अद्वैतभावना है। यह मन संसार रूपी एक सुन्दर चंदन वृक्ष की कल्पना किये हुए है। इसके स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर रूपी तीन स्कंध तथा अवस्थात्रय रूपी शाखोपशाखाएँ हैं। इस शरीर त्रय में अहंता एवं ममता तथा विकारों को उत्पन्न करनेवाला अहंकार भरा पडा है। अहंकार ब्रह्म चैतन्य के साक्षात्कार में बाधक है। यही अहंकार रूपी विषसर्प आवरण एवं

विक्षेप नामक विष का वमन करता है। इस विक्षेप शक्ति के प्रभाव से ही द्वैत भावना जन्म लेती है। यही विक्षेप शक्ति जन्म–मरण की अग्नि में जीव को फसाती है। इस प्रकार यह मन समस्त दुखों, पापों का कारण है। अत: समस्त प्रपंच मन क संकल्प पर आधारित है। अत: विवेकानुभूति से इस मन को जीतना चाहिए। उसके लिए शरीर संबन्धी अध्यास का नाश होना चाहिए। उसके साथ ही 'मैं' का अध्यास भी नष्ट होगा। तब अशरीरी हो द्रष्टा मात्र बनकर अहंकार सर्प का गला काट डाला जा सकता है। स्थूल शरीर के नाश से आत्मा केवल ज्ञान दृष्टिवाली बन जाती है। तब सूक्ष्म शरीर आत्मा से अभेद संबन्ध स्थापित करता है। तब सूक्ष्म शरीर अनात्म वस्तु सा दिखाई देगा। इस विवेकबुद्धि से अहंकार रूपी सर्प का दूसरा सिर भी काटा जा सकता है। कारण शरीरध्यास की निवृत्ति भी यहाँ आवश्यक है।

आवरण और विक्षेप शक्तियाँ जीव की आनंदानुभूति में बाधा डालती हैं। विक्षेप शक्ति ही चराचर ब्रह्माण्डों की सृष्टि करती है। अत: विवेक शक्ति से इसके इन्द्रजाल पर विजय प्राप्त करनी होगी। इसकेलिए आत्मदृष्टि की आवश्यकता है। आवरण शक्ति ब्रह्म को छिपा रखती है। सद्गुरु की कृपा से प्राप्त विवेक शक्ति से इस आवरण को काटने पर ब्रह्म चैतन्य का भास होने लगता है। तब समस्त दृष्टिगोचर प्रपंच, स्थूल–सूक्ष्म शरीर सब का विलयन हो एकमात्र ब्रह्म चैतन्य प्रतिभासित होने लगता है। सब कहीं आत्मचैतन्य विराजने लगता है।

वास्तव में अद्वैत चिन्तापद्धति स्वामी जी की एक अपूर्व रचना है, जिसमें वेद–शास्त्रोक्त सारतत्वों को पर्याप्त उदाहरणों द्वारा सामान्य जनता को समझाया गया है और बताया गया है कि जीव ही ब्रह्म है। भेदभावना अज्ञान की उपज है। इस एक ग्रंथ को देखकर स्वामी जी के वेद-शास्त्रों के गंभीर अध्ययन तथा चिन्तन मनन, का परिचय मिलता है। विभिन्न शास्त्रों का मंथन कर स्वामीजी ने जो नवनीत प्रस्तुत किया है, उसका आस्वादन कर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान पाएगा।

स्वामीजी के दार्शनिक चिन्तन

परमभट्टारक श्री विद्याधिराज महर्षि भारत के प्रसिद्ध संत–रत्नों में हैं और एक संत के अतिरिक्त बडे चिन्तक, विचारक दार्शनिक एवं योगी के रूप में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है। बचपन से ही किसी निगूढ तत्व का संस्पर्श पाकर वे पुलकावली भरते थे। तिरुवनंतपुरम के शंखमुखम् पर खडे होकर असीम एवं अनंत जलनिधि की ओर विस्फारित नेत्रों से देखते बालक चट्टम्पि स्वामी ने यह अनुभव कर लिया था कि समुद्र की गंभीरता में किसी अव्यक्त शक्तिविशेष की लीला विलास निक्षिप्त है। चारों ओर उन्होंने किसी अपरिमेय, एवं अनंत सत्ता के अस्तित्व का भी आभास पाया है। और ईश्वरीय महिमा से उनका हृदय पुलकित हो उठता था। वे बचपन में ही भद्रकालि के मंदिर में एकांत ध्यानस्थ बैठा करते थे, जो उनके साथियों केलिए आश्चर्य एवं विस्मय की बात थी। किन्तु ईश्वरीय भाव-लहरी में ध्यानस्थ बालक चट्टम्पि अपने साथियों की उपस्थिति के प्रति अनभिज्ञ हो रहते थे।

स्वामी जी की आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति अतिशयकारी रही। उनके जीवन चरित्र से परिचित समस्त विद्वान उनकी इस प्रगति पर विस्मय विमुग्ध हैं। सन्यास और योग जैसे सोपानों को पार करके वे परमहंस पद तक पहुँच गये हैं। अद्भुत सिद्धियों से युक्त वह 'योग काल' स्वामीजी के जीवन का प्रारंभिक सोपान था। 'योग: चित्तवृत्ति निरोध:' की परिभाषा के वे मूर्तिमत् स्वरूप बन चुके थे। इस स्थिति में पहुँचने के बाद उन्होंने यौगिक चमत्कारों को बालिश–क्रीडा की कोटि में ही स्थान दिया था। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' जैसे निगूढ वाक्यार्थों के संदेश स्वरूप उन्होने कालान्तर में कई स्तोत्रग्रंथों की रचना

को। अत: स्वाभाविक है स्वामीजी की कृतियों में भारतीय दार्शनिक चिन्तनों को वाणी मिले।

महर्षि विद्याधिराज स्वामी जी के दार्शनिक चिन्तन पर विचार करने के पूर्व इसपर थोडा सा विचार करना ठीक होगा कि दर्शन से हमारा तात्पर्य क्या है? 'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति 'दृश' धातु मे करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर हुई है जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाए' (दृश्यते अनेन इति दर्शन)। यह देखने की क्रिया दो तरह को होती है–आँखों से देखना तथा अंतः चक्षु से देखना। बाह्य चक्षु से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं। यही ज्ञान स्थूल दर्शन से अभिप्रेत है। किन्तु उसका सूक्ष्म दृष्टि से देखा ज्ञान भी होता है। यह तात्विक बुद्धि से प्राप्त होता है। उसके लिए अंतः चक्षु या प्रज्ञाचक्षु या दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। 'दर्शन' का प्रयोग प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। ईशावास्योपनिषद् में लिखा गया है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नापावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥

'सत्य का मुख सोने के पात्र से ढँका हुआ है। हे पूषन् (विश्वात्मा) इस ढक्कन को हटाइए, जिससे सत्य का (ब्रह्म का) और सनातन रूप पर प्रतिष्ठित धर्म का हमें 'दर्शन' हो सके। 'दृष्टये' शब्द का यहाँ प्रयोग ब्रह्मसाक्षात्कार के अर्थ में हुआ है। छांदोग्योपनिषद् में बताया गया है 'आत्मा वा ऽ परे द्रष्टव्यः।' यहाँ भी दर्शन का तात्पर्य आत्मज्ञान से है। समस्त चराचर जगत में परमेश्वर या विश्वपुरुष को देखना ही 'दर्शन' है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप दिखाने के पहले आत्मज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया था।

वास्तव में देखा जाए तो जीवन और दर्शन का अभेद्य संबन्ध है। दर्शन एक सैद्धान्तिक पद्धति है और उसका व्यावहारिक रूप ही जीवन है। अत: जीवन का वैज्ञानिक एवं नियमबद्ध अध्ययन करना ही 'दर्शन का अभिप्रेय है। जीवन की उत्पत्ति, उसका लक्ष्य और उसको अंतिम परिणति पर विचार करना दर्शन

का उद्देश्य है। इसलिए दर्शन केवल सैद्धान्तिक ज्ञान ही प्रस्तुत नहीं करता वह व्यावहारिक ज्ञान भी प्रस्तुत करता है। जीवन का संबन्ध आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक पदार्थों से है। इसलिए जीवन का व्यावहारिक ज्ञान प्रस्तुत करनेवाला दर्शन आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक पदार्थों का भी सम्यक् ज्ञान प्रस्तुत करता है। अतः इस दृष्टि से दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। डा० भगवानदास ने दर्शन का प्रयोजन समझाते हुए लिखा है— "सांसारिक और पारमार्थिक दोनों सुखों को साधने का मार्ग जो दर्शाए वही सच्चा दर्शन और यही दर्शन का प्रयोजन है।"

यद् आभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्॥

दर्शन दुख–निवृत्ति और सुख–संप्राप्ति का साधन बताता है। यह दर्शन भारतीय संस्कृति का परमोज्वल रत्न है और भारतीय तत्वज्ञान की पराकाष्ठा का प्रमाण है। वैदिक काल से हमारे ऋषियों को लौकिक एवं पारलौकिक जीवन उसकी समस्याएँ आदि बेचैन करते रहे और फलतः उनके निवारणार्थ वे चिन्तन और मनन करते रहे। इसके परिणामस्वरूप जो तत्वज्ञान वे प्राप्त कर सके वे ही हमारे दर्शन में पूरे पड़े है। ये दर्शन लौकिक और आध्यात्मिक जीवन की कुंजी हैं और उनके आदेश पर चल कर हम तीनों प्रकार के तापों से मुक्त हो सकते हैं। हमारे यहाँ दर्शन को ब्रह्मविद्या या अध्यात्मविद्या की संज्ञा दी गयी है क्योंकि हमारे ऋषियों ने विश्व के नियामक या नियंता जिस अध्यात्म तत्व का पता लगाया वही हमारे दर्शन का मूल है और इसे सर्वविद्याओं का मूलभूत कहा गया है "ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्"। (मुण्डकोपनिषद १–१) गीता ने भी इस समस्त विद्याओं की विद्या "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" कहा है (गीता१०-३२) इससे सत्य और अक्षर पुरुष को जाना जाता है" येनाक्षरं पुरुषं वेदसत्यम्।" (मु. उ. १–२–१३)।

उपर्युक्त भूमिका के साथ विद्याधिराज स्वामीजी से अभिव्यक्त दार्शनिक विचारों पर थोडा सा विचार करना उचित होगा। स्वामी जी भारतीय दार्शनिक

चिन्तकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और उनकी चिन्तन–पद्धति भारतीय अद्वैत दर्शन का पल्ला पकड़कर चलती है। हमारे दार्शनिक चिन्तनों का बीजरूप वेदो में प्राप्त होता है और वेदों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राचीन आर्य लोग संसार के परे एक सर्वशक्तिमान सत्ता के अस्तित्व से अवश्य ही परिचित थे और यह विश्वास रखते थे कि उसकी कृपा से वे अपनी विपत्ति एवं पीड़ा से मुक्त हो सकते हैं। सतपथ ब्राह्मण में लिखा गया है कि उस एक सत्ता से पूर्व कुछ नहीं था और उससे बढ़कर भी कुछ नहीं है। आकाश और पृथ्वी का वह आधार है। उपनिषदों में उसे नित्य शक्ति, सर्वात्मा, सच्चिदानंदस्वरूप, वेदान्तवेद्य, निर्गुण, निराकार, अनादि और अनंत कहा गया है। बताया गया है कि सृष्टि के प्रारंभ में एकमात्र अद्वितीय सत् था, सत् से अग्नि, अग्नि से जल, जल से अवनि की उत्पत्ति हुई। छांदोग्योपनिषद् में उसका परिचय देते हुए उसे भूमा, अमृत, ब्रह्म कहा गया है। गीता भी–ईश्वर, जोव और जगत के अतिरिक्त एक परम–रहस्यमय तत्व पुरुषोत्तम का वर्णन करती है, जो प्रकृति और पुरुष से परे है। यह अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म, परमात्मा है। अचला प्रकृति क्षर है तथा कूटस्थ पुरुष अक्षर है। (गीता १५–१८)। उसे परमात्मा ईश्वर, वासुदेव कृष्ण, प्रभु, महायोगेश्वर, ब्रह्म आदि कहा गया है। यह त्रिगुणी माया उसकी दैवी शक्ति हैं।

विद्याधिराज स्वामीजी का ब्रह्म संबन्धी दृष्टिकोण उपर्युक्त ब्रह्मसम्बन्धी मान्यताओं का अनुसरण करता है। उनका ब्रह्म कूटस्थ चैतन्य है जो सर्व–शक्तिमान, सर्वान्तर्यामी सर्वग्राही सत् चित् आनंदस्वरूप परब्रह्म है। यह ब्रह्म निर्विकार परमात्मा है जो माया से परे हैं। यह आद्यन्त रहित, वेदान्त-वेद्य निर्गुण ज्ञानस्वरूप सच्चिदानद मूर्त्ति है। माया से परे यह निर्विकारात्मा भगवान संसार को साक्षीस्वरूप हैं और इस संसार से असंपृक्त हो अपने अक्षर रूप में विद्यमान है।

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ प्रथम स्वर्ण बीज हैं जो स्रष्टा के प्रथम काय के बाद सृष्टि का भार अपने ऊपर लेता है। केनोपनिषद् के

अनुसार जब असत् ईश्वर प्रकृति से प्रथम प्रभावित हुआ तब हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई। यह हिरण्यगर्भ महान आत्मा है, जो अव्यक्त में से निकलता है। ईश्वर शाश्वत स्रष्टा है जो सृष्टि व्यापार के बाद भी रहता है। व्यक्त जगत् के नाम और रूप हिरण्यगर्भ में उसी तरह छिपे हैं जैसे कि भावी वृक्ष बीज में छिपा रहता है। (उपनिषदों की भूमिका पृ. ६१-६२)। ईश्वर विश्व-आत्मा से पूर्व का है और हिरण्यगर्भ स्वयं स्रष्ट (रचा हुआ) है और जगत् हिरण्यगर्भ से बन्धा हुआ है। ईश्वर की प्रेरणा से ही हिरण्यगर्भ सृष्टि लीला मे लग जाता है। इसप्रकार जगत् ईश्वर की रचना और हिरण्य-गर्भ की अभिव्यक्ति है। यह जगत् सर्वोच्च सत्ता का आत्म प्रक्षेपण है। श्वेताश्वर उपनिषद के अनुसार ईश्वर अपनी माया शक्ति से जगत की सृष्टि करता है। (श्वे-३-१०)। जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है, किन्तु रचित या सृष्ट होने से प्रत्येक का अपना पृथक् रूप है। किन्तु प्रथक् अस्तित्व का बोध अविद्या से होता है। इस अविद्या के कारण वह अपने को जगत की एकरसता मे विलयन नहीं कर पाता। इस वैयक्तिक अनुभूति के निराकरण मात्र से वह विश्व में अपनी आत्मा का स्पंदन देखता है और सभी में एक-रसताजन्य आनद का अनुभव करता है। जीव के हृदय में विकास करनेवाली आत्मा ब्रह्म ही है। मुण्डकोपनिषद के अनुसार यह जगत ब्रह्म से फूटता है और उसमे लीन होता है जिस प्रकार जलती हुई अग्नि से असंख्य चिनगारियाँ फूटती हैं उसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म से असंख्य सत्ताएँ उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में लौट भी जाती हैं। (मुं. उ. २ १ १)। ऋग्वेद के अनुसार सर्वव्यापक चित् रूप परमात्मा प्रत्येक शरीर में निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो जीव भाव को प्राप्त होता है। घट में रखे जल में आकाश की छाया के समान शरीरस्थ बुद्धि मे जो चिदाभास है, वही जीव है। ऐश्वर्यशाली वह परमात्मा माया और उसकी अनंत शक्तियों के द्वारा आकाशादि विविध रूपों में परिणत होकर नाम-रूपात्मक इस ब्रह्माण्ड की रचना करता है। शांकर वेदान्त दर्शन में सत्ता के पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक तीन रूप हैं। पार-मार्थिक सत्ता वह है जिसका अस्तित्व त्रिकाल मे अबाधित हो। यही ब्रह्म है। किन्तु रस्सी में सर्प का मान प्रातिभासिक सत्ता का परिणाम है। यह सर्पज्ञान

तब तक रहता है जबतक दीपक के प्रकाश में वास्तविक रस्सी का बोध न हो । अत: सर्पज्ञान बाधित हो जाता है । यह ज्ञान मिथ्या है । व्यावहारिक सत्ता वही है जिसके अस्तित्व को संसार-दशा में व्यवहार केलिए सत्य मानते हैं । यह सत्य भावना ब्रह्मज्ञान से नष्ट हो जाती है । शंकर के अनुसार ब्रह्म ही सत् है और शेष सब असत् । माया की विक्षेप शक्ति के कारण जो सृष्टि होती हैं, वह मायिक है ।

श्री विद्याधिराज स्वामी जी ने उपर्युक्त दार्शनिक विचारों को वाणी दी है । 'वेदान्तचिन्तापद्धति' में उन्होंने ब्रह्म, विवर्तवाद, माया, जीव आदि की स्थिति पर गम्भीर विचार किया है और बताया है कि सच्चिदानन्द स्वरूप एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है । रज्जुसर्प के जैसे अनादि माया शक्ति के कारण वही ब्रह्म ईश्वर, जीव और जगत् के रूप में भासित होता है । माया ब्रह्म से भिन्न या ब्रह्म का अंश नहीं है । वह अनिर्वचनीय एक कल्पित वस्तु है । यह संसार उस माया का परिणाम तथा ब्रह्म का विवर्त रूप है । ब्रह्म स्वरूप जीव माया के कारण अनृत जड़-दुखात्मक इस संसार को सच्चिदानन्द स्वरूप मान बैठता है । इस कारण देहाभिमानी जीव दृश्यात्मक संसार में अनन्त विषयानुभव की खोज में भटकता है । यही जीव भाव है । इसी जीव भाव में जन्म-मरण का अनुभव करनेवाला जीव अपने सुकृत से द्विजत्व को पाकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु का अध्यात्म सम्बन्धी उपदेश पाना चाहता है और उसके मुख से 'तत्वमसि' जैसे महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करके 'अहंब्रह्मास्मि' के ज्ञानोदय से जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त होता है । रज्जु भासित सर्प रज्जु के स्वरूप बोध से नष्ट होता है । वैसे ही ब्रह्म में कल्पित प्रपंच ब्रह्म स्वरूप बोध–अहंब्रह्मोस्मि-से नष्ट हो जाता है । अत: ज्ञान ही ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है ।

'सर्वं खाल्विदं ब्रह्मं' के महावाक्य से प्रभावित स्वामीजी चराचर जगत को ब्रह्म चैतन्य से युक्त मानते हैं । उन्होंने यह स्पष्ट घोषित कर दिया है कि जड़ चेतन सब में एक ही चैतन्य का वास है । इस तत्व को समझे बिना जीव हत्या में तत्पर रहनेवाले ईसाइयो की उन्होंने कटुशब्दों में निन्दा की तथा जीवदया का महान संदेश दिया । यही सर्वभूतों में आत्मभाव ही उनका

जीवनादर्श है और इसी आदर्श से परिचालित हो उन्होंने अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया ।

श्री स्वामीजी मात्र अद्वैतवादी नहीं थे । वे सिद्धान्त सम्प्रदाय के आचार्य थे और उसी परम्परा के अन्यतम ऋषि थे । वेदान्त और सिद्धान्त संप्रदाय दोनों में गम्भीर ज्ञान रखनेवाले इस ऋषि ने दोनों के समन्वय पर आधारित अद्वैत भावना को अपनाया और उसका प्रवर्तन किया । सिद्धान्त संप्रदाय के अनुसार चर्या, क्रिया, योग, ज्ञान आदि से परिपूर्णता को प्राप्त अधिकारी अनुभूति-सम्पन्न आचार्य से दीक्षा पूर्वक उपदेश ग्रहण करके अखंड परिपूर्ण ज्ञानात्मक 'शिवाद्वैत' अनुभूति को प्राप्त करता है । यह सिद्धान्त संप्रदाय शैव संप्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है । 'शैवाद्वैत' में शिवतत्व, विद्या-तत्व और आत्मतत्व के अन्तर्गत छत्तीस पदार्थों की स्वीकृति है । दर्पण में प्रतिबिंब के समान ये छत्तीस पदार्थ एक और परिपूर्ण ज्ञानात्मक शिवस्वरूप में प्रतिभासित हो रहे हैं । उसकेलिए कारण शिव की शक्ति है । शैव संप्रदाय के छत्तीस पदार्थों में पहला शिव दूसरी शक्ति है । वास्तव में शिव और शक्ति एक ही है । आग में उष्णता के समान शिव से अभिन्न हो शक्ति रहती है । इसी कारण शैव दर्शन का दूसरा नाम ईश्वरादित्यवाद भी है । यह द्वैत में अद्वैतवाद है । शिव और शक्ति के बाद मायातत्व, नियति तत्व आदि भी इस दर्शन के प्रमुख तत्व हैं । लेकिन ये सब अलग-अलग वस्तुएँ नहीं, शिव और शक्ति के विकसित रूप हैं । शक्ति के सात्विक गुणांश से शिव स्वरूप, रजो-गुणांश से जीवस्वरूप तथा तमोगुणांश से महत्तत्वादि प्रपंच स्वरूप की प्रतीति होती है । इस दर्शन में पुरुषतत्व का भी विस्तृत वर्णन मिलता है । पुरुष तत्व माया पर आधारित है । लेकिन यह माया शंकर माया से भिन्न है । शंकर के अनुसार माया अनिर्वचनीय तथा कल्पित है, किन्तु यहाँ माया वचनीय ही नहीं शक्तिस्वरूपिणी माया शिवस्वरूप भी है । इस कारण वेदान्त के अनुसार नानात्व प्रतीति से विछिन्न निर्विकल्प समाधि में अद्वैत ब्रह्म साक्षात्कार होता है, जबकि शैव दर्शन के अनुसार समाधि दशा के जैसे ही व्युत्थान दशा में भी अद्वैतानुभूति होती है । शैव दर्शन के अनुसार मायीच, कार्म्य और आयव नामक तीन मल जीव को शिव से पृथक् रखते हैं । इन तीनों से जीव का निर्माण,

हुआ है और इन के कारण शिव ही अपने स्वरूप को भूल कर पशु (जीव) बन जाते हैं। शैव दर्शन तीन उपायों से मुक्ति मानता है और ये उपाय क्रमशः आणव उपाय, शाक्त उपाय और शांभोय उपाय हैं। आणव से भेदबुद्धि उत्पन्न होती है और जीव अपने को ईश्वर से भिन्न मान बैठता है। इस भेद को दूर कर ईश्वर से तादात्म्य प्राप्त करने केलिए वह दीक्षा लेता है और इससे सालोक्य मुक्ति मिलती है। शाक्त उपाय में जीव दीक्षा लेकर उपासना भी करता है। वह जान लेता है कि ईश्वर का अस्तित्व संसार में भी है, किन्तु जीव से अलग। इस मार्ग के अवलम्बन से सामीप्य मुक्ति मिलती है। शांभोय उपाय से जीव को 'शिवोऽहम्' का बोध होता है और समझ लेता है कि संसार में जो कुछ है सब मेरा ही विकास है और मैं शिव हूँ। मुझमें और शिव में कोई अन्तर नहीं है। यही अभेदबुद्धि शैवदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है।

वास्तव में देखा जाए तो अद्वैतवाद तथा शैव संप्रदाय दोनों बाहर से भिन्न दिखाई देने पर भी, आन्तरिक दृष्टि से एक ही हैं। कार्य रूप प्रपंच को दृष्टि में रखकर ही दोनों माया और शक्ति का प्रतिपादन करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि दोनों में कारण से भिन्न कोई कार्य ही नहीं हुआ है। अत: अखंड परब्रह्म और अखंड शिव स्वरूप एक ही हैं। हाँ वेदान्त में कर्मकांड की प्रधानता आ गयी है तो शैव संप्रदाय में तंत्र-योग साधना की।

श्री विद्याधिराज स्वामी जी ने वेदान्त तथा सिद्धान्त संप्रदाय के समस्त ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन किया था तथा योग साधना में निर्विकल्प समाधि तक की सिद्धि प्राप्त कर शिवाद्वैत स्वरूप में जागृत हो जीवन्मुक्ति के आनन्द का अनुभव प्राप्त किया था। प्रपंच में स्त्री-पुरुषों का स्थान आदि से संबन्धित स्वामी जी के सारे विचार शैव संप्रदाय का अनुमोदन करते हैं। सन्यास के बाह्याचार संबन्धी काषाय, कमंड़लु सब का उन्होंने परित्याग किया था। सिद्धान्त संप्रदाय वाले बाह्याचार-निष्ठा पर ध्यान दिये बिना 'ज्ञान संन्यास लक्षणम्' के सिद्धान्त को मानकर चलते हैं। इसलिए वे सर्वसंग परित्यागी और अति वर्णाश्रम धर्मों के रूप में नहीं दिखाई देते हैं। 'तत्वमसि' उनका सिद्धान्त वाक्य होता है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तत्वमसि' जैसे वाक्यार्थों में गहरी निष्ठा एवं श्रद्धा रखनेवाले विद्याधिराज स्वामी जी की अद्वैत दृष्टि समाजोद्धार में लगी रही। एक ही परब्रह्म या शिवतत्व स्वरूप जीवों की भिन्न कोटियाँ या श्रेणियाँ स्वामी जी की समझ में नहीं आतीं। उनके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की मानव श्रेणियाँ बनाकर कुछ दंभी लोगों ने अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। जन्म के आधार पर कोई न ब्राह्मण होता है न शूद्र ही। सब जीव शिवस्वरूप हैं और उनमें जन्ममूलक भेद भ्रान्ति की उपज है। स्वामीजी ने स्पष्ट स्वीकार किया था कि ब्राह्मण और शूद्र में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थसिद्धि केलिए चार वर्णों की सृष्टि करके अपनी उच्चता का प्रतिपादन किया तथा शूद्र को चरण सेवक बना दिया। यही नहीं उन तथाकथित द्विजों ने वेद-शास्त्रों के अध्ययन का अधिकार केवल अपने तक सीमित रखा। स्वामीजी ने यह अनुभव किया कि इस उच्च-नीच भाव का निराकरण किये बिना केरलीय नायर जाति का उद्धार असंभव है। अत: स्वामीजी ने अपने उपदेशों, लखा, कृतियों द्वारा सुषुप्त नायर जाति को जगाने तथा उसे उसके अधिकार से परिचित कराने का प्रयास किया। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि वेदाधिकार ब्राह्मणों की बपौती नहीं, शूद्र भी उसके अधिकारी हैं। द्विज वह है जिसने ज्ञान पाकर वेदाध्ययन की योग्यता प्राप्त की है, न कि वह जो तथाकथित ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ है। अतः स्वामीजी सच्चे समाजसुधारक थे और समाज-सुधार संबन्धी उनके क्रांतिकारी विचारों ने केरलीय निम्न जाति के लोगों मे नयी स्फूर्ति एवं जोश का संचार कर दिया। अत: स्वामीजी का दर्शन धर्मनीति पर आधारित एक सामाजिक व्यवस्था की ओर संकेत करता है, जहाँ प्रत्येक मनुष्य को अपने जन्मजात गुणों को विकसित करने की सुविधा प्राप्त हो जहाँ मनुष्य के द्वारा मनुष्य का जाति-धर्म के नाम पर शोषण न हो तथा जहाँ मनुष्य अपने शिवत्व की समरस अनुभूति में आत्मिक सुखानन्द प्राप्त कर सकें। इसी में श्री स्वामीजी की महत्ता है और इसी के कारण वे भारतीय संतों, आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा में अपनी कड़ी जोड़ लेते हैं।

निजानन्द विलासम

महर्षि विद्याधिराज तीर्थपाद की रचनाओं में अद्वैत चिन्ता पद्धति और 'वेदाधिकार-निरूपणम' की चर्चा ११६ से १४० तक के पृष्ठों में हो चुकी है। विद्वानों एवं अधिकारी पुरुषों का यह अनुभव था कि 'उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों' के अलावा भी ऐसी एक रचना अवश्य स्वामी जी द्वारा लिखी गयी होगी जिसमें उक्त ग्रन्थों के परे के अनुभव-सिद्ध रहस्य-पूर्ण तत्वों का प्रतिपादन हो। स्वामी नटराजगुरु ने स्वयं यह आशा प्रकट की थी कि संभव है कि ऐसी एक रचना कहीं प्राप्त हो सकती है। स्वामी जी महाराज के गृहस्थ शिष्य श्री कुम्पलत्तु शंकु पिल्लै जी इस दिशा में प्रयत्न तो कर रहे थे कि एक दिन स्वामी जी के ही एक शिष्य श्री बालानन्द स्वामी ने 'निजानन्द विलासम' संज्ञक रचना की पान्डु लिपि वर्कला शिवगिरि आश्रम के गुरु नित्यचैतन्य यति को सौंप दी। वस्तुतः प्रस्तुत प्रौढ़ एवं गंभीर रचना में 'वेदाधिकार निरूपणम' के तात्विक विश्लेषण के पश्चात् का सारा अनुभव संकलित हुआ है।

'निजानन्द विलासम' कोई साहित्यिक अथवा इतिहासग्रंथ तो नहीं है। वह उन अनुभवों का प्रतिपादन कर रहा है जो अनुभव भगवान् व्यास जैसे किसी ऋषि को प्राप्त है और उस दर्शन का शब्दबद्ध रूप है। यह कहा जाय कि इसमें वेदान्तपरक संहिताओं एवं औपनिषदिक रहस्यों का पुन:प्रवचन है, तो भी इसका स्वरूप पूर्णत: प्रकट नहीं हो सकता। इसमें जो अनुभव-वर्णन हैं वे स्वच्छ तथा स्फटिक जैसे निर्मल हैं और अनन्त काल तक सत्यान्वेषी महापुरुषों को पथप्रदर्शन देनेवाले होते हैं। ये यद्यपि अनायास समझ में आनेवाले अनुभव तो नहीं हैं, फिर भी अधिकारी पुरुष के अन्तस्सन्देहों को एक-एक करके दूर कर पूर्ण तथा अमल आनन्द को प्रदान करनेवाले हैं। यह पारस पत्थर एक संयमी, प्रयत्नवान एवं सत्यान्वेषी पुरुष के मनोतम का धीरे-धीरे निवारण करके उसे आलोकदीप्त करने में सबल है।

इसमें शिष्य का प्रश्न और गुरु का उत्तर इस क्रम से प्रतिपादन हैं। प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य जब अवबोधता के साथ अपनाया जाता है तब आगे के तत्वों पर विचार करना होता है। लेकिन, उत्तर एवं शंका-निवारण का क्रम सीधा तथा स्पष्ट होने पर भी प्रतिपादन करने की रीति और प्रयुक्त भाषा कठिन है और कष्ट-सहन के पश्चात ही हासिल होनेवाली है।

निजानन्द का मतलब है अनुभूत आत्मानन्द। इस अनुभव को सुवेद्य बनाने वाला है 'निजानन्द विलासम'। सिद्धान्त-प्रतिपादन और समर्थन की अपेक्षा अनुभव का अनुरणन इसकी विशेषता है। एक के बाद दूसरे के क्रम से प्राप्त होनेवाली अनुभववेद्यता, शिष्य के क्रम-बद्ध सन्देहों का तुरन्त निवारण और अव-बोध के साथ आनन्द का स्फुरण और उस आनन्द की अनुभूति का स्थाइत्व यही इसका क्रम है। बस्तुतः यह अत्यंत स्थाई महत्व का अद्भुत क्रम है।

आत्मानन्द का अनुभव अनेक विध रहस्यों से जनित है। साधक कभी अपने प्राप्त छोटे-बड़े चमत्कार-पूर्ण अनुभवों में भ्रमित रहते हैं। उन अनुभवों को वे सिद्धि मान लेते हैं। और ऐसे अनुभवों से अपने को सिद्धपुरुष मानकर संरक्षक की पोशाक पहनकर जनता को चमत्कृत करने लगते हैं। ऐसे भ्रमित साधकों को 'निजानन्द विलासम' के अध्ययन से लाभ प्राप्त होगा। वे अपने भ्रामक अनुभवों और उनसे होनेवाले प्रभाव से बच सकते हैं। और वास्तविक अनुभव से प्राप्त आनन्द पा सकते हैं।

'निजानन्द विलासम' ग्रन्थ नौ प्रकरणों में विभक्त है—जैसे,

(१) अवस्थात्रय शोधना सम्प्रदाय प्रकरणम्
(२) गुणाधिक्यजन्य आरोपसूक्ष्मनिरूपण-प्रकरणम्
(३) ब्रह्मेशजीव जगद्विशेषण निरूपण प्रकरणम्
(४) मायालक्षण निरूपण प्रकरणम्
(५) सदनुभव निरूपण प्रकरणम्
(६) चिदनुभव निरूपण प्रकरणम्
(७) आनन्दानुभव निरूपण प्रकरणम्
(८) मनोनाश मार्गनिरूपण प्रकरणम्
(९) आवरणविक्षेप निवृत्ति प्रकरणम्

अवस्थात्रय शोधना सम्प्रदाय प्रकरण में शिष्य विनम्र भाव सहित गुरु से यह जानने की अभिलाषा प्रकट करता है कि मुझे परम गति का मार्ग निर्देशित कर देने की कृपा करें। आचार्य देव प्रारम्भ में ही संक्षेप में उत्तर देते हैं कि शरीर, इन्द्रियों और उनकी तीन प्रकार की अवस्थाओं और उनमें प्रतिबिंबित होनेवाली चेतन सत्ता को विवेक के साथ पहचानकर उनके आधार-स्वरूप विराजमान संगहीन एवं नित्य शुद्ध तथा अन्तर्यामी ब्रह्म तत्त्व को परमात्मा के रूप में जानना ही परमगति है। गुरु आगे विश्लेषण करके कहते हैं कि देह, इन्द्रिय, अन्त:करण जाग्रत–स्वप्न सुषुप्ति में दिखाई पड़नेवाले भावाभावमय जगत् ये सब जड़ वस्तुएं हैं। इनको प्रकाशपूर्ण बनानेवाला चित्त चिदाभास है। उसके भी आधार स्वरूप रहनेवाला चेतनतत्व अन्तर्यामी नित्य-शुद्ध परमात्म सत्व हैं। आगे, गुरुदेव उपर्युक्त जड़ वस्तुओं और चेतन तत्वों का सोदाहरण प्रबोध देते हैं। फलस्वरूप शिष्य स्वानुभव से आत्मानन्द सागर में निमग्न होकर वासनामुक्त हो जाता है।

दूसरे प्रकरण में गुरुदेव शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए सन्देह–निवृत्ति कर देते हैं कि भावाभाव वृत्ति सम्बन्ध से रहित रहनेवाले परमात्मा पर अध्यारोप के निदान स्वरूप प्रपंचाध्यास आभास रूप से ही सही, होने का क्या कारण है। इस सन्दर्भ में स्थूल–सूक्ष्म एवं कार्य–कारण की सोदाहरण साँगोपांग चर्चा होती हैं और शिष्य का सन्देहमुक्त होकर आत्मानन्दलीन होना संभव हो जाता है।

तीसरे प्रकरण में आत्मानन्द में लीन रहनेवाले शिष्य को गुरुदेव ब्रह्मानन्द दायक ज्ञान–दान करने की पुन: कृपा करते हैं। इस सन्दर्भ में ब्रह्म, ईश, जीवन, प्रपंच और माया के लक्षण बताये जाते हैं। प्रकृति–पुरुष, प्रपंचोत्पत्ति, विराट्-पुरुष, सृष्टि स्थितिलय, सर्वसाक्षीत्व, अन्तर्यामी, प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ तैजस, विराट, विश्वन, सर्वज्ञ, इन सब का ज्ञान कराकर गुरुदेव शिष्य से कहते हैं कि यह सारा ब्रह्म–ईश–जगत तुम्हीं हो! शिष्य तदनुसार चिदेकरस बन जाता है।

चतुर्थ प्रकरण में जगत् का कारणस्वरूप जो माया है उसका सविस्तृत अवबोधन कराया जाता है। अन्त में सर्वत्र व्यावहारिक ज्ञान को भ्रान्ति-ज्ञान समर्थित करके शिष्य को प्रबुद्ध कराया जाता है।

पाँचवाँ प्रकरण सदनुभव निरूपण प्रकरण है। इसमें शिष्य अपना अनुभव बताता है कि परमात्मा जो है वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। जड़ और अजड़

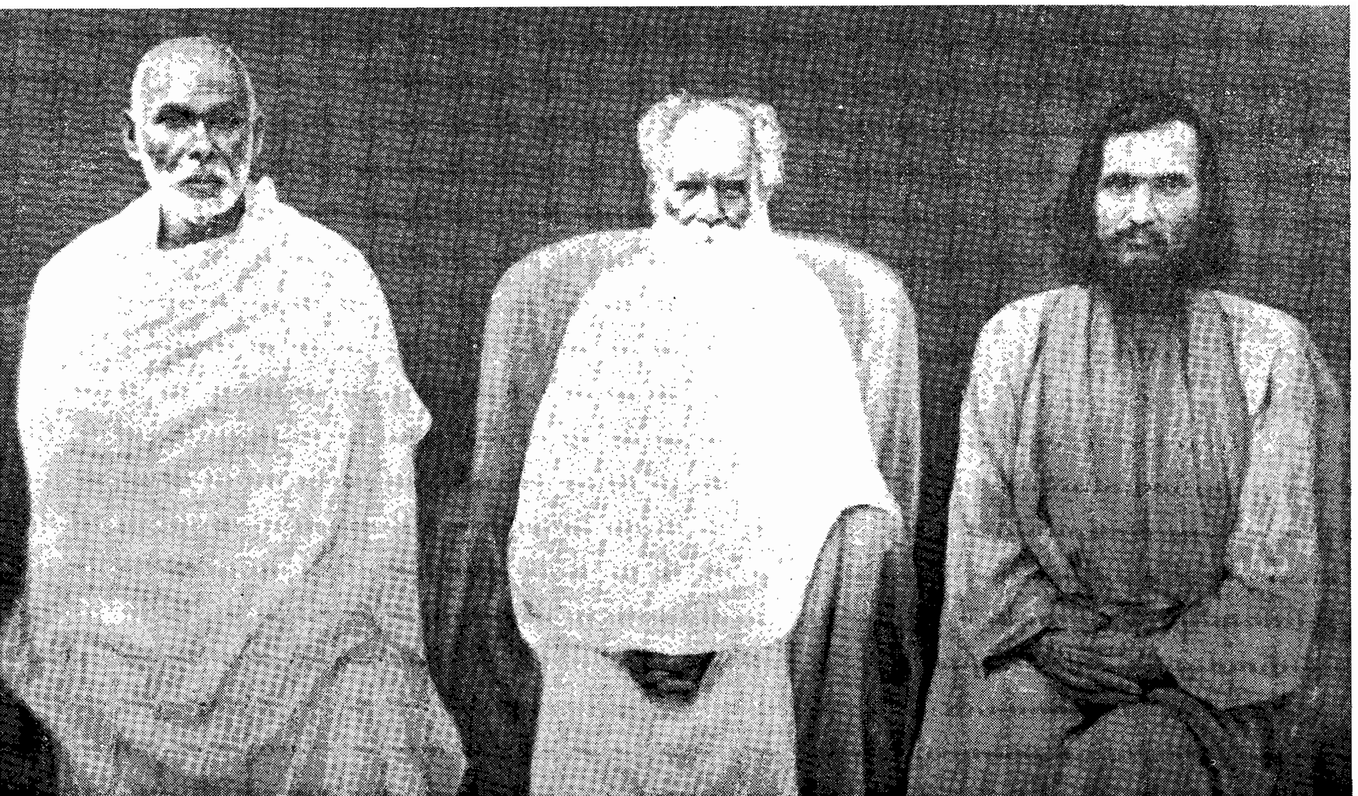
रूपों में जो कार्य–कारण–प्रपंच दिखाई दिया वह मिथ्या है। श्रुति का मुख्य स्वभाव यह नहीं है कि वह प्रपंच का प्रतिपादन करे। और उसका मुख्य स्वभाव प्रपंचातीत परमात्मा का प्रतिपादन करना है, जिसकी अवबोधता हो गयी। आगे शिष्य की जिज्ञासा है कि "फिर भी उस भ्रान्ति-ज्ञान विषयक प्रपंच को स्थूल से लेकर अव्यक्त तक मिथ्या मानना और श्रुति ने जैसे कहा कि परमात्मा विषय–विषयी भेद से अलग तत्व है, इसकी अनुभूति को संवेदित करा दें। गुरुदेव ने घड़ा, पट, और मठ के उदाहरणों से प्रमाणित कर अनुभववेद्य कर देते हैं कि घट और घटाभाव तथा उनके अन्तराल के द्वारा भावाहंकार रहित निर्विकार सत्ता, का तत्व मानकर उनका अनुभव कर ले। इसके समर्थन में गुरुदेव ने परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी इत्यादि नादब्रह्म के चारों भेदों को भी संवेदित कर देते हैं। और तदनुसार क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और ज्ञान-शक्ति का भी अनुभव देते हैं।

षष्ठ प्रकरण में सन्मात्रानुभव प्राप्त होने के साथ ही चिदनुभव प्राप्ति का भी वर्णन है। इस प्रकरण में, मन के सब स्वरूप विच्छेद्रित होकर उत्पत्ति–नाश के वशीभूत न रहने का अनुभव कराया जाता है।

सातवें प्रकरण में आनन्दानुभव कराया जाता है। इह से पर तक के प्रपंच-ब्रह्माण्ड में आनन्द की अवस्थिति है। इसमें दो प्रकार के आनन्द–विषयानन्द और ब्रह्मानन्द —हैं। इन दोनों प्रकार के आनन्द की विशद चर्चा यहाँ होती है और अंत में दृश्यातीत परोक्षानुभव से उद्भूत आनन्द अथवा ब्रह्मानन्द का अनुभव कराया जाता है।

आठवें और नौवें प्रकरणों में क्रमशः मनोनाश की अन्तिम अवस्था और आवरण विक्षेप निवृत्ति का अनुभव है। ये दोनों प्रकरण स्वयं सम्पूर्ण तो हैं। अपने से निर्मित प्रपंच को मिथ्या मानकर उसमें भी स्वयं 'मैं' का बोध कर लेना आवरण विक्षेप निवृत्ति है। यही अवस्था 'अहं ब्रह्मोस्मि' है।

इस परम अनुभव के साथ शिष्य और गुरु दोनों में अभेद स्थिति संजात हो जाती है। यहाँ निजानन्द का अर्थ अनुभूत हो जाता है।



महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद अपने दो शिष्यों के साथ
[बायें श्री नारायण गुरु दायें स्वामी तीर्थपाद परमहंस] महासमाधि के कुछ दिन पूर्व।

केरल की ऋषि-परंपरा और महर्षि विद्याधिराज महाराज

केरल ऐसा एक प्रदेश है जिसको अनेक प्रकार की विशिष्ट परम्पराओं का श्रेय प्राप्त है। संस्कृति, जनजीवन, समाजव्यवस्था, व्यापार, आदि अनेक क्षेत्रों में केरल की अपनी परम्परा रही है, जो प्रागैतिहासिक काल से चलती आ रही है। प्राकृतिक सौंदर्य एवं वन-सम्पत्ति के लिए वह प्रदेश समूचे भारत का ही अग्रणी है। यही कारण है, अनेक विदेशी राष्ट्रों के लोग इस प्रदेश की ओर आकृष्ट होते थे। ऋषि-परम्परा की दिशा में भी केरल अपना अलग अस्तित्व तथा गौरव बनाए रखता था। केरल के साथ ऋषि का सम्बन्ध जोड़ने से लोग शायद आश्चर्य का अनुभव करते होंगे। लेकिन केरल का यही सौभाग्य है कि उसकी मिट्टी पवित्र है और ऋषि-वास के लिए वह सर्वदा उपयुक्त है। बहुत पुराने समय से लेकर यहाँ ऋषियों का निवास था और अब भी वह परम्परा अक्षुण्ण है।

केरल का आविर्भाव तो स्वयं एक महर्षि की उदारता से हुआ है। दशावतारों में परशुराम का जीवन अद्भुत एवं चमत्कारी स्वभाव से युक्त था। तीनों गुणों के (सत्व-रज-तमस) पुंजीभूत रूप थे भृगु मुनि। उनके परशु की रचना है केरल। अर्थात् परशुराम जी ने ब्राह्मणों को दान देने के लिए एक पवित्र देश का निर्माण किया। यह अत्यन्त रोचक कल्पना हुई कि केरल को निष्कल्मष भूमि का पद दे दिया गया। और ऐसी पावन भूमि का दान देकर ब्राह्मण देवताओं को उन्होंने प्रसन्न किया। समुद्र से भूमि का निर्माण किया! यह कथा चाहे सत्य हो, चाहे अतिरंजनापूर्ण कल्पना मात्र, पर यह एक सुन्दर तथा भव्य संकल्प है। दान की वस्तु भी उस योग्य हो, तभी

दान एक दिव्य कर्म होगा। परशुराम ने ऐसी भूमि का दान किया, जिसपर किसी का पाद-स्पर्श नहीं हुआ है। और दान स्वीकार किया उन ऋषि-सदृश ब्राह्मणों ने जो परशुराम को पाप-मुक्त कर सकते थे। तब मज़ा यह हुआ कि केरल को निर्मित किया ऋषि ने और उसे स्वीकर किया ऋषियों ने ! केरल की ऋषि परम्परा यहाँ से शुरू होती है। वस्तुत: परशुराम और केरल की कथा भारतीय कथा-सागर की एक उत्तुंग तरंग है।

केरल में ऐसे देवमिंदर असंख्य हैं जिनमें, कहा जाता है, स्वयं परशुराम ने देव-प्रतिष्ठाएं की हैं। परशुराम जी की मूर्तियां भी बहुत हैं। परशुराम और केरल दोनों के आपसी सम्बन्ध के लिए ये मन्दिर प्रमाण तो अवश्य हैं। इतनी प्रभूत संख्या में देवालयों का निर्माण भारत के किसी भी प्रान्त में अन्यत्र दिखाई नहीं देता। केरल में जहाँ कहीं भी मिट्टी खुदी जाती है वहाँ मिट्टी के भीतर से देवमूर्तियाँ प्रत्यक्ष होती हैं। इसका यह प्रमाण है कि केरल के अनगिनत देवालयों का नाश हो चुका है और उनके भग्नावशेष से वे देवमूर्तियाँ आज भी बाहर निकल आती हैं। इतने से एक तथ्य की ओर प्रकाश पड़ता है कि प्रागैतिहासिक युगों में भी केरल का सांस्कृतिक धरातल उतना ही स्वस्थ था जितना आज है। देवालयों और उनमें प्रतिष्ठित मूर्तियों की निर्माण-प्रतिष्ठा का कर्तृत्व ऋषियों के जिम्मे रहा था। और परशुराम के युग से लेकर वह ऋषि-परम्परा युग-युग तक अक्षुण्ण रही होगी।

जैसे भारत भूमि आर्षभू है और उसने संख्यातीत महर्षियों को जन्म दिया है वैसे केरल भूमि भी लगातार ऋषि-मुनियों को जन्म देती आ रही है। महाभारत में जितने भी महर्षियों का उल्लेख है वे सब उत्तर के हैं। इसका कारण, आर्य संस्कृतियों के व्याख्याकारों के मनोभाव का या तो एक-पक्षीय स्वभाव रहा होगा। या मलयालम को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में न मानना अथवा केरल को भी आसुरी संस्कृति के अन्तर्गत समझा जाना अथवा उनके विकृत संकल्प का परिणाम। व्यास देव इस बात में दोषी नहीं हो सकते हैं।

परशुराम की कथा से जुड़ी हुई प्रस्तुत परम्परा का दूसरा उत्थान-काल।

आचार्य शंकर का जीवन काल है। लग-भग एक हजार दो सौ वर्षों के पहले विश्वविख्यात आचार्य शंकर केरल में आर्ष-संस्कृति के उन्नायक का सा जीवन व्यतीत करते थे। शैवपरम्परा के अतुल्य महर्षि आचार्य शंकर स्वयं भगवान शंकर के अवतार माने जाते थे। उन्होंने व्यास-देव के सदृश वेदोपनिषदों की ऐसी व्याख्या की, जो आज तक मान्य है और आधिकारिक है। वेदों और उपनिषदों के शंकर-भाष्य उत्तर के ऋषियों और संतों को सर्वथा आदर की वस्तु रही है।

श्री शंकराचार्य की ऋषि परम्परा केरल में आगे भी कायम रही। लेकिन, शंकराचार्य की उच्चता और गरिमा इतनी अतुल्य रही थी कि भविष्य में उनके समशीर्ष कोई ऋषि नहीं आये। यह स्थिति वास्तव में केरल के भीतर की ही नहीं रही, अपितु समग्र भारत में भी शंकराचार्य के पश्चात् उनके बराबर कोई महर्षि प्रसिद्ध नहीं हुए। इस दृष्टि से केरल की ऋषि-परम्परा का महत्व स्वयमेव संस्थापित हो जाता है। आचार्य शंकर की परम्परा केरल में भी अविछिन्न रही है। शंकराचार्य के मुख्य शिष्यों में स्वामी पद्मपाद केरलीय रहे थे। इतिहास के अनुसार आचार्य शंकर द्वारा स्थापित चार मठ त्रिचूर में हुए थे। वे थे 'एडयिले मठ', 'वटक्के मठ', 'नटुविले मठ' और 'तेक्के मठ',। आज भी ये चार मठ कायम रहते हैं। (बीच के मठ : उत्तर के मठ, मध्य के मठ और दखिनी मठ) इन मठों मे अध्यात्म-चिन्तन और आचारानुष्ठानों का नियम है।

आचार्यशंकर के बाद एक केरलीय ऋषि का आविर्भाव हुआ है। वे थे विल्वमंगलम स्वामियार। ये लीला शुक नामक अपर नाम से प्रख्यात थे। 'श्रीकृष्ण कर्णामृत' सज्ञक मनोहर काव्य इनके द्वारा प्रणीत है। श्रीविल्व-मंगलम स्वामियार सारे भारत में प्रसिद्ध थे और उनका नाम अत्यंत आदर के साथ स्मरण कर लिया जाता था। इनके जन्म के बारे में कई देशवासी विभिन्न विचार रखते हैं। तमिलनाडु वासी लोग स्वामी जी को अपने देशवासी मानते हैं और इसी प्रकार तेलुगू और बंगला के लोग भी अपने अपने देश के मानते हैं। लेकिन, कई अंतर्बाह्य प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिनके प्रकाश में स्वामी जी

का केरलीय होना निश्चित माना जा सकता है। उन्हीं के द्वारा केरल में अनेक देवालय स्थापित हुए हैं। और उनके कार्य-व्यापार से केरल की ऋषि परम्परा की नींव मजबूत हुई है। स्वामी बिल्व मंगलम भी एक ऐसे पहुंचे हुए महर्षि रहे हैं, जिनके जीवन के पश्चात् उस महान आचार्य के समशीर्ष संत अथवा ऋषि निकटवर्ती युग में नहीं हुए। स्वामी बिल्वमंगलम भक्ति और वैराग्य दोनों में निष्ठावान थे। उनके बाद भक्ति को आश्रय रूप में स्वीकार कर अनेक आध्यात्मिक पुरुष केरल में ख्यातिप्राप्त रहे हैं, जिन्हें ऋषि मानना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है। स्वामी कृष्णानन्द ने भागवत ग्रन्थ का प्रचार केरल में किया और उन्होंने स्वयं उस ग्रन्थ की व्याख्या 'कृष्णपति' नाम से की। परम भक्त और 'कृष्णप्पाना' के कृतिकार पून्तान नम्पूतिरि, भक्तोत्तम महाकवि मेलत्तूर नारायण भट्टतिरि ये दोनों पुरुषोत्तम अपने-अपने भक्ति काव्य का अमृत पिलाकर आज भी केरलीय जन-मानस को शान्त-शीतल करते रहते हैं।

कुटल्लूर कुञ्ञुण्णि नम्पूतिरिप्पाड़ एक प्रकाण्ड विद्वान तथा भक्त-शिरोमणि थे। श्री चित्रकुट्टि शास्त्री सन्यास स्वीकार कर हिमालय गये। ये दोनों केरल की ऋषि परम्परा के दो कड़ियाँ थे।

केरल के भक्त कवि श्री तुंचत्तु रामानुजन एषुत्तच्चन अपनी विद्वत्ता एवं आचरण से स्वयं अपने को एक महान ऋषि स्थापित कर सके हैं। वे योगाचार्य भी थे। 'हरिनामकीर्तनम', भाषा रामायण, भागवत और महाभारत के प्रणेता श्री एषुत्तच्चन केरलीय जनता के सर्वादरणीय भक्त कवि थे। उन्होंने समूचे केरल में भक्ति-धारा की अजस्र गंगा प्रवाहित की। आज भी केरल के घर-घर में उनको रामायण का पारायण किया जाता है। उत्तर भारत में रामचरितमानस की जैसी प्रभुता काम करती थी और कर रही है वही प्रभुता केरल में अध्यात्म रामायण मलयालम् रचना की है। अध्यात्म रामायण का मूल संस्कृत से मलयालम में जो भाषान्तरण हुआ है वह अत्यन्त मनोहर भक्ति-काव्य है। एषुत्तच्चन ने उसे अपनी आध्यात्मिक क्षमता के द्वारा स्वतंत्र काव्य जैसा रचा है। वस्तुत: उन्होंने हरिनामकीर्तनम जैसी

अपनी स्वतंत्र रचनाओं द्वारा ब्रह्म-तत्व का सुरुचि-पूर्ण एवं गंभीर प्रतिपादन किया है और स्वयं एक ऋषि का सा जीवन व्यतीत कर रहे थे।

ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित होता है कि प्रारम्भ से लेकर अखण्ड रूप में जो ऋषि परम्परा केरल में होती आ रही है उसके साथ ही बौद्ध-जैन भिक्षुओं का भी जीवन-इतिहास केरल के सांस्कृतिक इतिहास का अंश बना रहा है। असख्य बौद्ध-जैन विहारों का ध्वंस हो चुका है और आज भी यहाँ वहाँ उनके आश्रम तथा विहार मिलते हैं। केरल के एक देवता शास्ता की मूर्तियाँ जो मिलती हैं उन बौद्ध-जैन भिक्षुओं की स्मृति जगा रही है। मावेलिक्करा और करुमाटी इन दो जगहों में अब भी ऐसी बौद्ध प्रतिमायें मिलती हैं।

श्री कुलशेखर आलुवार केरल के प्राचीन चक्रवर्ती माने जाते हैं। वे उत्तम शासक और साथ ही साथ संत भी थे। संस्कृत की प्रसिद्ध रचना 'मुकुन्दमाला' और तमिल की 'आलुवार तिरुमोषि' इन दोनों कृतियों के रचयिता थे श्री कुलशेखर आलुवार। इन रचनाओं के अन्तर्साक्ष्य यह सूचित करते हैं कि चक्रवर्ती कुलशेखर आलुवार श्रेष्ठ ऋषि रहे थे।

पहले केरल के सामाजिक और राजनैतिक सारे कार्य-कलापों के साथ देवालयों का निकटतम सम्बन्ध रहा है। यदि कहीं सार्वजनिक सम्मेलन चलता था तो वह भी देवालय के आँगन में चलता था। उन दिनों ग्राम-सम्मेलन 'तरक्कूट्टम' के नाम से चलते थे। उससे बड़े सम्मेलनों को 'नाट्टुकूट्टम' (याने अनेक ग्रामों से सम्बन्धित) कहते थे। ये सब सम्मेलन आध्यात्मिक वातावरण से याने देवालयों से सम्बन्धित होकर चलते थे। इन सारे कर्म-व्यापारों से प्रमाणित यह होता है कि केरल के वैचारिक मण्डलों पर भी ऋषियों का निर्देशन लागू होता था। शायद यही कारण था कि केरल के उस समय की उत्तरी सीमा गोकर्ण से लेकर केरल के श्रीचरण कन्यकुमारी तक लाखों-करोड़ों देवालय फैले पड़े थे। वह समाज नीति कि व्यक्ति से लेकर सामाजिक-राजनीतिक तल तक के मामलों का निबटारा देवालयांगन में किया जाना, उस देश की सांस्कृतिक गरिमा की परिचायिका है।

आज संसार भर में श्रीरामकृष्ण परहंस की दिव्यता अनुभव कर ली जाती है। स्वामी श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जैसे उनके अनेक शिष्यों के दिव्य आध्यामिक प्रभाव से शत वर्षों से भारत अनुग्रहीत है। वेदोपनिषद के तत्वों को संसार भर व्याप्त करने में श्री व्यासदेव का महान कर्तृत्व रहा था। वही कर्तृत्व स्वामी विवेकानन्द ने निभाया था। वस्तुत: स्वामी विवेकानन्द और अन्य श्रीरामकृष्ण शिष्य भारत की ऋषि परम्परा में ही आते हैं। केरल के भीतर जिस सख्या में श्रीरामकृष्ण मठ और आश्रम काम कर रहे हैं उस संख्या में दूसरे किसी भी देश में नहीं कर रहे हैं। केरल के जितने सन्यासी अथवा ऋषि इस दिशा में आये हैं वे असंख्य हैं। केरलीय सन्यासी अन्य देशों में भी मठाधिपति होकर रहे हैं, श्रीरामकृष्ण मठ आज भी प्रभूत सख्या में केरल में कार्यरत हैं। इन संस्थाओं के द्वारा वेद, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, नारदीय भक्तिसूत्र, ब्रह्माण्डपुराण, गीता, महाभारत, रामायण महाभागवत इत्यादि आध्यात्मिक गंथों के सिद्धांतों का प्रचार-कार्य भी किया जा रहा है।

उल्लिखित श्रीरामकृष्ण मठों के अलावा स्वतंत्र रूप से भी असख्य आध्यात्मिक तथा अनुष्ठान केन्द्र केरल भर अत्यंत भव्यता के साथ आज भी चलाये जाते हैं। उनमें कतिपय आश्रमों के नाम निम्न प्रकार है : ओट्टप्पालम निरंजन आश्रम, आलत्तूर सिद्धाश्रम, त्रिवेन्द्रम के चेंकोट्टुकोणम श्रीरामदास मिशन, वर्कला शिवगिरि मठ, त्रिवेन्द्रम का अभेदाश्रम, पोत्तमकोट् शान्तिगिरि आश्रम, वाषूर आश्रम, त्रिचूर रामकृष्ण मठ इत्यादि।

इन आश्रमों तथा मठों के प्रवर्तन से केरल में आज एक स्वस्थ आध्यात्मिक परिवेश विद्यमान है। इनके सम्पर्क से समीपस्थ एवं दूरवर्ती करोड़ों परिवार शान्त गृहस्थ जीवन अपना रहे हैं और पारिवारिक जीवन के साथ आध्यात्मिक चिन्तन का संयोग होना श्रेयस्कार तो है। वही श्रेय-प्रेय का संयोग केरलीय जीवन में होता है।

इसप्रकार केरल का महर्षि परम्परा अनुस्यूत तथा अखण्ड रही है। श्री परशुराम जी के द्वारा प्रारब्ध एवं स्वामी शंकराचार्य द्वारा समर्थित केरल की ऋषि-परम्परा आज तक अक्षुण्ण रही है। इसी ऋषि परम्परा की

उज्ज्वल प्रभा का अनुभव बीसवीं शताब्दी में केरल भर हुआ और अब भी उस प्रभा का परिवेश कायम है। महर्षि विद्याधिराज महाराज और नारायण गुरु जैसे योगियों के भव्य एवं साधना-रत जीवन के प्रभाव से आधुनिक केरल के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक जीवन की दिशाएं बदल गयीं। प्रारंभ में ये दोनों महापुरुष एक साथ ग्राम- ग्रामान्तरों में भ्रमण कर तत्कालीन सामाजिक गति-विधियों का निरीक्षण करते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें मालूम हुआ कि केरल का सामाजिक जीवन जाति-वर्ण-व्यवस्था की जटिलता के चंगुल में फँसकर क्षीणित और प्राणहीन हो चुका है। उन्होंने इस अरोचक तथा अशोभन स्थिति का उन्मूलन करना चाहा और अपनी यथायोग्य कार्य-रीति से और उपदेशों से भविष्य के युगान्तरकारी परिवर्तन का स्वस्थ शिलान्यास किया। निम्न वर्ण के लोगों के यहाँ स्वामी विद्याधिराज नियमित रूप से जाते थे और उनके साथ बैठकर बातचीत ही नहीं करते थे बल्कि शुद्ध भवनों से वे खाते-पीते भी थे। श्री नारायण गुरु निम्न-जाति के थे। इसलिए स्वामीजी महाराज ने उनके साथ चलकर और उन्हें अपने बराबर समझाकर नारायण गुरु की जाति के लोगों में दृढ़ विश्वास स्थापित किया। उन दिनों यह एक प्रकार का क्रान्तिकारी कार्य-व्यापार रहा था। आगे, श्रीनारायण गुरु ने अपनी जाति के लोगों (ईषवा जाति) पर अपने उपदेशों का प्रभाव विस्तार किया। फलत: उस समय से ईषवा जाति के लोगों में सामाजिक परिष्करण का बीजारोप हुआ और उससे उनमें अद्भुत परिवर्तन भी हुआ। स्वामी जी महाराज के विचारों से नायर समुदाय प्रभावित हुआ। उसके भी दूरव्यापी परिणाम हुए। लेकिन स्वामीजी की दृष्टि में जातीय अथवा वर्ण-व्यवस्था का संकुचित भाव नहीं था। उनके सारे उपदेश मनुष्य मात्र को लक्ष्य मानकर थे। लेकिन स्वामीजी महाराज के दूसरे शिष्य तथा प्रकाण्ड विद्वान स्वामी नीलकण्ठ तीर्थपाद के द्वारा नायर समाज के अनेक नेता प्रवावित हुए और फलस्वरूप नायर समुदाय का भी ग्रंथि-बन्धन हुआ। अनेक प्रकार के अन्ध विश्वासों और अनाचारों का उन्मूलन होने लगा। राष्ट्रीय भावना उत्तरोत्तर बलवती होने लगी। भारत केसरी समुदायाचार्य श्रीमन्नत्तु पद्मनाभन इस युग के केरलीय विभूति थे। वे महामना मदनमोहन मालवीय के समतुल्य अथवा उससे भी आगे के महान

पुरुष थे। स्वामी जी महाराज की उनपर अपार कृपा थी। और उन्हें स्वामी जी आराध्य रहे हैं। उन्होंने समूचे केरल के नायर समाज का उद्धार किया। आज श्री मन्नत्तु पद्मनाभन द्वारा स्थापित संस्था 'नायर सर्वीस सोसाइटी' केरल में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी कार्यशील है। कहने का तात्पर्य यह है कि महर्षि विद्याधिराज महाराज और श्री नारायण गुरु दोनों ने केरल की महर्षि-परम्परा की कड़ी को आगे बढ़ाया है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि ये दोनों श्री परशुराम और शंकराचार्य के पथ के यशस्वी यात्री थे। इनके सांस्कृतिक-सामाजिक कार्य की यही विशेषता थी कि दोनों महापुरुषों ने अपने विचारों, अनुष्ठानों और उपदेशों से नाशोन्मुख केरल को उबारा। आज जो कुछ भी केरल का अपना माना जा सकता है वह इन महापुरुषों के विचारों का क्रियारूप है। भारतीय सिद्धान्तों के संपोषक थे दोनों। अद्वैत के समर्थक तथा पहुँचे हुए मीमांसक थे। श्री नारायण गुरु स्वयं स्वामी जी महाराज के शिष्य भी थे। यदि थोड़ा अन्तर था तो इतना कि स्वामीजी महाराज सिद्ध-पुरुष थे और नारायण गुरु थे श्रेष्ठ साधक, फिर भी दोनों अपने जीवन-चर्या से महर्षि थे। जैसे शंकराचार्य भगवान शंकर के अवतार माने जाते हैं वैसे महर्षि विद्याधिराज महाराज शंकराचार्य के अवतार माने जाते हैं। श्री परशुराम ने केरल में असंख्य देवालयों में देवप्रतिष्ठा की और श्री नारायण गुरु ने भी केरल के उत्तर से दक्षिण तक अनेकों देवालयों में ईश्वर की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कीं। इस अर्थ में गुरुजी परशुराम जी के अधिक निकट रहते हैं। यह महर्षि-परम्परा का पठन वस्तुत: अत्यन्त रोचक मालूम होता है।

बड़े हर्ष की बात है कि आज भी केरल की महर्षि-परम्परा स्वस्थ रूप में चल रही है। उत्तर काशी निवासी तपोवन स्वामी जी केरल की सन्तान है और पूर्वाश्रम में नायर समुदाय के व्यक्ति थे। श्री तपोवनम स्वामी जी वेदोपनिषदों के अपार ज्ञाता हैं, और आर्ष-संस्कृति के संपोषक हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना 'हिमगिरी विहारम' स्वयं हिमवान की जैसी गरिमामय है। स्वामी जी अनेक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता हैं। भारत भर के और बाहर के अनेक जिज्ञासु आध्यात्मिक पुरुष रोज उनके दर्शन करते हैं और उनके शिष्य बनते हैं। प्रसिद्ध सन्यासी और वेदांती स्वामी चिन्मयानन्द जी उनके शिष्य

हैं। यह तो सर्वविदित है कि स्वामी चिन्मयानन्दजी भारतीय दर्शनों का प्रचार करते हुए और यहाँ की महर्षि-परम्परा को बल देते हुए असंख्य विदेशी देशों में भी भ्रमण करते रहते हैं। उनका 'गीतायज्ञ' नामक भाषणमालायें सुनने के लिए लाखों की तादाद में लोग इकठ्ठे होते हैं।

श्री नारायण गुरु की शिष्य परम्परा में श्री नटराज गुरु और श्री नित्य-चैतन्य यति अपने गुरु-सन्देश को विदेशों में भी प्रसारित करते हैं। महर्षि नारायण गुरु का यही सन्देश था — "मनुष्य के लिए एक जाति, एक धर्म और एक ही ईश्वर है।"

महर्षि विद्याधिराज महाराज स्वामी विवेकानन्द के लिए परम आदरणीय रहे थे। एक बार एरणाकुलम में दोनों जब मिले, तब स्वामी विवेकानन्द की आग्रह-पूर्ति करते हुए स्वामी जी महाराज ने 'चिन्मुद्रा' का सैद्धांतिक एवं प्रयोग-पाठ करा दिया। बृहदारण्यकोपनिषद से प्रमाण भी प्रस्तुत किया। इससे विवेकानन्द स्वामी अत्यधिक प्रभावित हुए थे।

केरल के असंख्य सन्यास आश्रमों में आज भी ऋषि-तुल्य जीवन व्यतीत करनेवाले योगी हैं। उनमें अधिकांश योगी अपने युग के समाज-जीवन को शुद्ध करने और आध्यात्मिक आलोक फैला देने की साधना में ही लगे रहते हैं। वस्तुत: इस दृष्टि से केरल भारत का एक अखण्ड प्रदेश है, जो भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म तथा मीमांसा का ही अविराम प्रचार करता है।

स्वामी विद्याधिराज महाराज के शिष्य

श्री नारायण गुरु

एक शतवर्ष के पहले केरल का सामाजिक धरातल आज का जैसा नहीं था। आज जो समाज-जीवन यहाँ चल रहा है उसकी कल्पना भी सौ वर्ष पहले नहीं की जा सकती थी। जाति-वर्ण की जटिलता को देखकर स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि 'केरल एक पागलखाना है।' स्वामी जी ने यह प्रस्ताव किया था बाँगलोर में। बाद में केरल आकर लौटे तो उन्होंने कहा कि मैंने केरल में एक अद्भुत मनुष्य को देखा। यह अद्भुत मनुष्य महर्षि विद्याधिराज महाराज थे। उन्हीं अद्भुत मनुष्य के दीर्घकालीन सहचारी एवं आध्यात्मिक शिष्य थे श्री नारायण गुरु। गुरु और शिष्य दोनों केरल के ही नहीं भारत के भी महापुरुष थे। वस्तुत: दोनों विश्व के गुरु थे। स्वामी विद्याधि राज और श्री नारायण गुरु दोनों ने अपने पवित्र संकल्पों से केरल को आमूल परिवर्तित कर दिया।

जैसे पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि केरल की महर्षि परम्परा में स्वामी विद्याधिराज महाराज और श्री नारायण गुरु का स्थान कितना महत्वपूर्ण है। आज उनकी जन्मशती के पश्चात् केरलीय जनजीवन में एवं सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक कार्य-क्षेत्रों में उन दोनों पूजनीय महापुरुषों के कर्तृत्व का प्रताप अंगीकृत हो चुका है। इन दोनों ऋषियों ने परस्पर जाना और पहचाना। एक महापुरुष ही दूसरे महापुरुष की गरिमा का अनुभव कर सकता है। लग-भग चालीस-पचास वर्षों की संतत सहचारिता और जन-मंगल-कर्मों के कारण वे स्वयं देश के पूजनीय बने।

श्री नारायण गुरु का जन्म सन् १८५४ में तिरुवनन्तपुरम के चेम्पषन्ति ग्राम में हुआ। बहत्तर वर्ष तक आप जीवित रहे और सन् १९२६

में वर्कला शिवगिरि मठ में समाधिस्थ हुए। श्री नारायण गुरु के जन्म से तीन वर्ष पहले स्वामी विद्याधिराज महाराज का जन्म हुआ था और नारायण गुरु स्वामी की महासमाधि के पाँच वर्ष पूर्व स्वामी विद्याधिराज की महासमाधि हुई थी। इस प्रकार दोनों महर्षियों का जीवन-काल एक ही रहा था।

श्री नारायण अपनी पच्चीस वर्ष की अवस्था में शिक्षा-पूर्ति करके घर लौटे। इसके बाद दो-तीन वर्ष तक आप अंचुतेङ्ङु, कटक्कावूर आदि गावों में अध्यापक का काम करते रहे। जब वे अठाईस वर्ष के थे तब उनके माता-पिता ने उन्हें विवाह-बन्धन में डालना चाहा। लेकिन श्री नारायण प्रव्रज्या स्वीकार करके और परिवार-सम्बन्ध को त्यागकर घर के बाहर गये। सन्यास स्वीकार करने के बाद नारायण यति ने स्वामी जी विद्याधिराज का साक्षात्कार किया। स्वामी जी विद्याधिराज उस समय तक एक तेजस्वी सन्यासी के रूप में ख्याति-प्राप्त हो चुके थे। उस समय उनकी अवस्था छत्तीस वर्ष की थी और वे अनेक तपस्वियों के प्रसाद एवं अनुग्रह से धन्य हो चुके थे। इस सन्दर्शन के बाद दोनों यति-वर्य तीन वर्ष तक एक-साथ रहे। उन्हीं दिनों में श्रीनारायण गुरु ने अरुविप्पुरम में क्षेत्र-प्रतिष्ठा की। स्वामी विद्याधिराज महाराज के सान्निध्य में देव-प्रतिष्ठा की गयी थी। इन तीनों वर्षों के अन्तराल में श्री नारायण गुरु ने स्वामी जी के सम्पर्क में रहते हुए योग-चर्या, तत्वग्रहण एवं तपस्या का जीवन व्यतीत किया। इसके पहले स्वामी जी महाराज ने नारायण गुरु स्वामी का तैक्काट्टु अय्यासुवामी से योग-चर्या का अभ्यास प्राप्त कर चुके थे और अय्या सुवामी के अलावा अनेक पहुंचे हुए वेदांत शास्त्रियों एवं योगियों के सम्पर्क में रहते हुए सुवामी जी महाराज इस दिशा में पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर चुके थे। इसके बाद ही उनसे श्री नारायण गुरु का साक्षात्कार हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि अरु-विप्पुरम में रहते हुए नारायण गुरु स्वामी जी महाराज का उपदेश स्वीकार करते रहे होंगे।

श्री नारायण गुरु ने सन् १८८१ में 'विज्ञान चिन्तन' और 'देवचिंतन' ये दो रचनाएं कीं। सन् १८८४ में 'विनायक शतकम', 'गुहाष्टकम्' 'भद्रकाली

अष्टकम्' 'वैराग्यदेशिकम्,' इत्यादि स्तोत्रों को रचा। स्वामी जी महाराज के निर्देश से 'नवमंजरी' नामक रचना का निर्माण किया। उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है कि मैंने 'नवमंजरी' की रचना अपने गुरु स्वामी जी महाराज की अनुज्ञा से की है। सन् १८८७ में अरुविप्पुरम में रहते हुए उन्होंने 'आत्मोपदेश शतकम्' संज्ञक रचना का निर्माण किया था। अब तक वे काफी प्रसिद्ध भी हो चुके थे।

स्वामी नारायण गुरु ने केरल में अनेक मन्दिरों में देव-प्रतिष्ठाएं कीं। अन्त में उन्होंने देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा के स्थान पर लम्बा दर्पण रखा। यह उनके ब्रह्मविचार की परिसीमा के लिए प्रमाण है। 'अहम् ब्रह्मोस्मी' 'तत्ममसी' इत्यादि सूत्रवाक्यों के सार तत्व को अभिव्यक्त करनेवाले एक तथ्य के रूप में इसकी व्याख्या की जा सकती है।

श्री नारायण गुरु के काव्यों का परम तथ्य भी ब्रह्म-विचार है। श्री शंकराचार्य जैसे व्याख्याकारों के अनुसार ब्रह्म की व्याख्या उनमें प्रतिपादित है। वे उपनिषदों के तत्वों से भी भिन्न नहीं हैं। भारतीय संस्कृति एवं विचारों की आधुनिक कड़ी के रूप में उनको लिया जा सकता है। इस अर्थ में, उनके विचार धर्म, जाति एवं देश की गणना विशाल भाव पर आधारित है। 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' 'लोको समस्तो सुखिनो भवन्तु' इत्यादि अत्यंत पावन चिन्तन आपके विचारों एवं उपदेशों की आधारशिला है।

अनेक सन्दर्भों में जैसे कहा जा चुका है, कि केरल की वर्णव्यवस्था स्वामी जी महाराज और श्री नारायण गुरु के जीवन के दूसरे और तीसरे चरणों में अत्यत जटिल रही थी और नायर और ईषवा दोनों जातियों के लोग ब्राह्मण जैसे उच्च वर्ण के अधीन रहकर अनेक प्रकार की सामाजिक विषमताओं को चुपचाप सहते रहे थे। आज के लोग उन विषमताओं को केवल कपोल-कल्पित कथाएं ही मानेंगे। इषवा जैसी निम्न जातियों के लोगों को जिन-जिन कष्टों एवं पीड़ाओं का सामना करना पड़ता था वह अत्यत कठोर था। वे लोग मोल

लिए गये गुलामों की सी जिन्दगी व्यतीत करते थे । उनकी स्त्रियों को नग्नता छिपाकर रखने का अधिकार भी नहीं रहा था । पुरुषों को यजमानों की बेगारी करनी थी । यह प्रथा परम्परा से चलती आ रही थी । इससे वे बंधे रहे थे । निम्न वर्ण के लोगों को शिक्षा प्राप्त करना, अच्छी तरह वस्त्र-धारण करना और स्वयं अपने लिए कुछ सोचना मना था । कठोर परिश्रम करना और भूखों रहना नियम था ।

नायर समुदाय के लोगों को अपेक्षाकृत कम यातनाएं सहनी पड़ती थीं । चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार शूद्र निम्न वर्ण का था । इसलिए शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रहकर नायर समुदाय की भी श्रीवृद्धि संभव नहीं थी । परम्परा से नायर समुदाय भी समाज में तिरस्कृत एवं पीड़ित रहा था । निरक्षरता, विपन्नता. अलसता, स्वजनविद्वेष, दासता, अधार्मिकता, दुराचार इत्यादि विनाश-कारी तत्वों के चंगुल में नायर लोग भी फंसे हुए रहे थे । इसलिए ये हमेशा आत्मग्लानि के शिकार बने रहे थे ।

उपर्युक्त परिस्थिति में पड़े हुए दो समुदायों का उद्धार किया जाना आसान कार्य नहीं है । युग-युग से चले आनेवाले आचारों के विरुद्ध उंगली उठाने का साहस कौन कर सकता था ? इस दुखद यथार्थ को स्मरण करते समय हम श्री विद्याधि राज महाराज और श्री नारायण गुरु के अद्‌भुत एवं चमत्कारी प्रभाव से अभिभूत हो जायेंगे ही । उन दोनों ऋषिवर्यों ने केरल के इतिहास, संस्कृति और समाज व्यवस्था को नया रूप प्रदान किया । इसके परिणाम स्वरूप भारत के अन्य देशों की तरह केरल में भी एक स्वस्थ एवं व्यवस्थित समाज-व्यवस्था आज कायम है । दोनों श्रेष्ठ गुरुओं ने जितना लिखा है वह इस महान लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही लिखा है । वस्तुत: श्रीनारायण गुरु ने अरुविप्पुरम में जो देवता प्रतिष्ठा की है वह जाति-वर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात का काम बना । निम्न वर्ण के एक व्यक्ति के हाथों ईश्वर की प्रतिष्ठा होना क्रान्तिकारी चेष्टा नहीं थी तो फिर क्या थी ? इससे यह प्रमाणित होता है कि श्री नारायण गुरु का ऐसा प्रयत्न अतीव असरदार था । इसका दूरव्यापी फल भी प्राप्त हुआ । भविष्य में केरल की वर्ण-व्यवस्था की नींव हिली तो इसमें स्वामी जी के व्यक्तित्व का प्रश्रय माना जाना ही पड़ता है ।

श्री नारायण गुरु के ऐसे धीरोचित प्रयत्न का प्रबल विरोध कहीं भी नहीं हुआ। वस्तुत: ऐसे क्रान्तिकारी चेष्टा का विरोध होना स्वाभाविक था। यही नहीं, राज्य में उनके सिद्धांतों का असर व्याप्त होता जाता था। इसका प्रमुख कारण तो स्पष्ट है। स्वामी विद्याधिराज महाराज के साथ श्रीनारायण गुरु का संतत साहचर्य और उन दोनों के बीच का आपसी विश्वास तथा उनका सह-प्रवर्तन प्रस्तुत विरोध को निर्मूल कर देने में सहायक रहा।

श्री नारायण गुरु ने आगे अनेक मंदिरों में देव-प्रतिष्ठा की और उन मन्दिरों के समीप वेद-पाठशालायें खोलीं, जहाँ संस्कृत और वेदों को पढ़ाने की व्यवस्था हुई। इस प्रकार, स्वामी जी ने हिन्दू समाज के निम्न वर्ण वालों के अधिकारों की नींव मजबूत कर दी। आगे श्री नारायण गुरु के क्रान्तिनाद इस प्रकार मुखरित हुआ-

" एक जाति, एक धर्म, एक ईश मानव के
एक योनि, एक आकार नहीं भेद कदापि इसमें। "

यहाँ यह भी कहना संगत होगा कि स्वामी जी को इस निर्भीक उद्घोषणा के लिए महर्षि विद्याधि राज के 'वेदाधिकार निरूपणम" " सर्वमत सामरस्यम् " जेसे ग्रंथों ने बल दिया होगा।

श्री नीलकण्ठ तीर्थपाद स्वामी

जगद् गुरु शंकराचार्य के जन्म देश कालडी की दखिन–पूर्व दिशा में सोलह मील की दूरी पर स्थित मूवाट्टुपुषा नामक तालूक के माराडी गाँव में सन् १८७१ को नीलकण्ठ का जन्म हुआ। जोतिषियों के मतानुसार बालक दीर्घायु नहीं ठहरा। माता का नाम कल्याणी था और पिता का नीलकण्ठ पिल्लै। पिता उदार एवं ईश्वर भक्त थे। माता शिक्षित नहीं थी। अपनी तीसरी सन्तान नीलकण्ठ पर उन्हें अपार वात्सल्य रहा था।

प्रारंभिक शिक्षा गाँव की पाठशालाओं से प्राप्त हुई। कभी अपने गुरुजनों का कोपभाजन नहीं रहे थे। एरणाकुलम वाले अंग्रेज़ी हाईस्कूल में पढ़ कर मिड़िल परीक्षा पास कर ली। उन दिनों पिता का देहान्त हुआ। इसके बाद कुल–परम्परा के अनुसार विषचिकित्सा का अभ्यास किया और उसमें सफलता प्राप्त की।

बाल्यावस्था से आप दैनिक आचरणों में निष्ठावान रहे थे। सबेरे तीन बजे से उठकर स्नान करना, देवदर्शन करना, एकादशी जैसे व्रताचरण करना, विश्राम के सन्दर्भ में भी ध्याननिरत रहना आदि अनुष्ठानों में तो सहज अभ्यस्त थे। उन्होंने एक प्रसिद्ध आचार्य के मुंह से व्याकरण, तर्क, न्याय आदि विद्या सीख ली। इसके अलावा श्रीविद्या एवं त्रिपुरादि मंत्रों द्वारा फल-प्राप्ति कर ली। इन्हीं दिनों आपको महर्षि विद्याधिराज महाराज के दर्शन प्राप्त हुए। वहाँ स्वामी जी के मुँह से चित्स्वरूप शब्द–विवरण की व्याख्या सहित सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसी समय से आपके मन में स्वामी जी महाराज के प्रति अनन्य भक्ति उत्पन्न हुई। इसके पश्चात आप पूर्वाधिक ईश्वरोन्मुख जीवन में लग गये। उन्होंने स्वामी जी महाराज से योगविद्या हासिल की।

एक दिन आप के ज्येष्ठ भ्राता को सर्प ने काट लिया। परिवारे के अन्य विषहारियों द्वारा उनके शरीर में व्याप्त बिष निकलना संभव न हुआ तो स्वयं आपने उसे निकाल दिया। लेकिन उस क्रिया के साथ सर्प मर गया, तो आपने प्रण कर लिया कि भविष्य में विषहरण का काम नहीं करूँगा।

आगे स्वामी जी महाराज के उपदेश से आपने सन्यास का जीवन अपनाया। योगचर्या के योग्य अनेक कल्पों का सेवन किया। धौती, जलवस्ती, नौळी इत्यादि पंचकर्मों को प्रयोगाधीन कर लिया। और खेचरी मुद्रा के अभ्यस्त हो गये। गुरुदेव की आज्ञा से संस्कृत एवं तमिल के ग्रन्थों से ज्ञानार्जन किया। परिणामत: श्री नीलकण्ठ स्वामी जी अपार पण्डित, ज्ञानी और ग्रन्थकार बन गये। स्वामी जी ने भारतीय दर्शन-शास्त्रों को मनोयोग से पढ़ लिया। इतिहासों-पुराणों का भी अध्ययन किया। संस्कृत काव्यों एवं नाटकों को पढ़ा। विश्व प्रकाशम, शब्द व्यूह तरंगिणी. हारावली, हैमम्, त्रिकाण्ड शेषम्, रामाश्रमी आदि कोशग्रन्थों का अभ्यास किया। प्राकृत ग्रन्थों में कात्यायन सूत्र वृत्ति, भारत मंजरी, गाथा सप्त शती इत्याति ग्रंथों को पढ़ा। इसके अलावा गुण्डूर, चिदम्बरं आदि जगहों में जाकर शब्दकौस्तुभम्, रसगंगा-धरम्, कृष्णभट्टीयम इत्यादि ग्रंथों को भी पढ़ा था। सूतसंहिता के 'यज्ञ वैभव खण्ड' के अध्ययन से सुवामी जी अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उपर्युक्त मीमांसा ग्रन्थों के अलावा 'अद्वैत ब्रह्मसिद्धि', 'गौड ब्रह्मानन्दीयम् ,' इन ग्रंथों को वे लगन से पढ़ते थे। अन्य अनेक ग्रन्थों को अपने गुरुदेव ऋषि विद्यधिराज महाराज के द्वारा अभ्यसृत किया जिनमें संक्षेपशारीरिकम्, भेदाधिकारं, अद्वैत सिद्धान्त विद्योतनम् , सिद्धान्तरत्नाकरं, न्यायसुधा इत्यादि थे। अपने समकालीन ब्रह्मविद् एवं ज्ञानियों की सहायता भी कभी-कभी ग्रंथाभ्यसन में सुवीकार करते थे। ज्योतिष शासृत्र के भी सुवामी जी ने अनेक ग्रन्थ पढ़ लिए और अनेक वैद्य ग्रन्थ भी। संसृकृत और मलयालम के ग्रन्थों के अलावा तमिल, कन्नड़, हिन्दी, बंगला आदि भाषाओं के विशिष्ट ग्रंथों से भी वे ज्ञानार्जन कर चुके थे। संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि ग्रन्थ-पारायण में बहुत कम लोग ही इतने आकृष्ट हुए होंगे।

स्वामी नीलकण्ठ तीर्थ पाद बाल्यावस्था से काव्य-निर्माण किया करते थे। बीस वर्ष की अवस्था के पूर्व ही उन्होंने मौसल पर्व, एक नौकागीत देवस्तुति, अकारादि कीर्तन माला, सुन्दोपसुन्द नाटक आदि रचनाएं की थीं। उनकी प्रकाशित रचनाओं में निम्न लिखि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'वेदान्तमणिबिळक्कु' 'अद्वैत पारिजातं', 'अद्वैत स्तबकं', भोगरहस्य कौमुदी', स्तव रत्न हारं', 'श्रीकण्ठामृत लहरी,' 'स्वराज्य सर्वस्वं', 'योगामृत तरंगिणि', 'हठयोग-प्रदीपिका', 'कर्णामृतं' और 'आत्मामृतम'। पण्डितों ने इन ग्रन्थों को समुचित आदर दिया है। और इन ग्रंथों का काफी प्रचार भी हुआ है। सारे भारत और इन्ग्लैण्ड, जर्मनी, अमेरिका इत्यादि विदेशों के विद्वानों ने स्वामी जी की रचनाओं की प्रशंसा की है।

भागवत, भारत, रामायण और पुराणों का अध्ययन करते समय स्वामी जी को उनमें प्रतिपादित पुण्यस्थानों के दर्शन की लालसा रही थी। आगे चलकर यह अभिरुचि पुरातत्व गवेषणा के रूप में परिणत हुई। इसके फलस्वरूप स्वामी जी ने अनेक प्रसिद्ध पौराणिक स्थानों के सन्दर्शन किये थे। उन स्थानों के देवालयों के अलावा वहाँ के ग्रन्थालयों आश्रमों में जाकर विद्वानों से मिलकर वहाँ के कार्य-व्यापारों की जानकारी प्राप्त करते थे। इसप्रकार स्वामी जी की कीर्ति देश-विदेशों में फैल गयी। अनन्य सदृश्य पाण्डित्य, योग-चर्या पर अवलम्बित जीवन; कवित्व वैभव, उत्तम ग्रन्थों का प्रकाशन इत्यादि से स्वामी जी की ओर सात्विकपुरुषों का आकर्षण होने लगा। फलतः उन्हें अनेक श्रेष्ठ व्यक्ति शिष्यों के रूप में प्राप्त हुए। विभिन्न जातियों के स्त्री-पुरुष स्वामी के शिष्य बने। स्वामी जी का प्रथम शिष्य सदाश्रयन नामक एक साधु थे। शिवप्रसाद विद्याभारती, चिन्मंजरी, आत्मयोगिनी, नारायण कवि दीपन, गोविन्दस्थानेश्वरन, परमानन्द नाथन, परम विशुद्ध बोधन, करिङ्ङाट्टिल नाणु-आशान आदि अनेक विशिष्ट व्यक्ति आपके शिष्य थे। श्री कूटल माणिक्य के प्रति निधि तच्चुटय तम्पुरान आपके शिष्य थे, यह विशेष उल्लेखनीय बात है।

अपने शिष्यों की आध्यात्मिक उन्नति को लक्ष्य मानकर स्वामी जी ने गोविन्द स्थानेश्वर के मठ में 'अद्वैत सभा' की स्थापना की। स्वामी जी

और महर्षि विद्याधि राज महाराज दोनों इस सभा के तत्वावधान में सम्पन्न सभाओं के अध्यक्षीय स्थान ग्रहण किया करते थे। दो-तीन वर्षों तक इस 'सभा' का प्रवर्तन स्वामी जी के सान्निध्य में चला। बाद में श्री स्थानेश्वर की मृत्यु हुई और पीछे स्वामी जी महाराज की चिर समाधि भी हो गयी। समाधि के समय स्वामी जी की अवस्था उनचास वर्ष की थी। जैसे पहले कहा जा चुका है कि आपकी जन्म-पत्री में कम उम्र का ही उल्लेख था, माने इक्कीस वर्ष का। लेकिन अपने योगपरक जीवन के कारण वे ४९ वर्ष तक जन-सेवा करते हुए जीवित रहे। स्वामी जी को महासमाधि की वार्ता सुनकर महर्षि विद्याधि राज परम हंस वहाँ पधारे और उन्होंने पद्मासनस्थ मृत शरीर के सिर पर हाथ रखकर कहा "ब्रह्म का एक विशिष्ट जगत यों विसर्जित हुआ है।"

स्वामी जी महाराज के सान्निध्य में शिष्य की समाधि बिठायी गयी। और उन्होंने वहाँ उस समाधि के ऊपर एक मन्दिर भी स्थापित किया। यह समाधि मन्दिर स्वामी जी के एक शिष्योत्तम ताषतोट्टत्तु श्री वेलुपिल्लै के एक मठ में है। इस मन्दिर के कार्य संचालन के लिए काफी धन और भूमि की व्यवस्था हो गयी है। और उसके समीप ही स्वामी जी के नाम पर 'नीलकण्ठ' तीर्थपाद विलासम नाम से संस्कृत हाईस्कूल भी स्थापित हुआ।

स्वामी जी असंख्य गुणों की खान थे। तपोनिष्ठ जीवन एवं सुचिता से वे सदैव तेजोदीप्त थे। उदार सौम्य और साथ ही गंभीर थे। प्राणि मात्र के प्रति स्नेहशील थे। उन्हें गुरुदेव साक्षात् ब्रह्म थे। वे सब के आदर के पात्र थे।

श्री तीर्थपाद परमहंस स्वामी

श्री तीर्थपाद परम हंस स्वामी महर्षि विद्याधिराज महाराज के मुख्य शिष्यों में हैं। श्री तीर्थपाद सम्प्रदाय की स्थापना करने का आपने ही विशेष रूप से प्रयत्न किया था। इसके फलस्वरूप मध्य तिरुवितांकूर एष ुमट्टूर नामक गाँव में एक गुरुकुल सथापित हुआ। बाद में यह गुरुकुल तीर्थपाद सम्प्रदाय की केन्द्रिय संसथा के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यहाँ परमहंस सवामी की परिचर्या सवीकार करते हुए सवामी जी महाराज ने विश्राम किया था। सवामी जी महाराज तो वर्णाश्रम धर्म के कायल नहीं थे। फिर भी, कुछ समय तक अपने शिष्योत्तम के लोक हितकारो कार्यव्यापारों का स्वयं अनुभव प्राप्त करते हुए उसी संस्था में जो रहे यह एक असाधारण घटना थी। अपने गुरुदेव के सन्देशों को श्री परमहंस स्वामी जी ने देश-विदेशों में फैला दिया। स्वयं एक श्रेष्ठ वक्ता होने के कारण आपके भाषणों का लोगों पर पूरा प्रभाव पड़ता था।

स्वामी जी ने तीर्थपाद परम्परा की विविध संस्थाओं को सुचारु रूप से चलाने की व्यवसथा करायी। 'तीर्थपादीय सभा', तीर्थपादाश्रम 'अध्यात्म मिशन' इत्यादि संसथाएं सथापित कीं और केरल के विविध केन्द्रों में इन संसथाओं का प्रवर्तन फैला दिया। सवामी नीलकण्ठ तीर्थपाद की समाधि के बाद गुरुदेव के द्वारा सवामी परमहंस जी कुलपति नियुक्त हुए थे।

सवामी तीर्थपाद परमहंस जी संसकृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। ज्योतिशास्त्र, मंत्र विद्या इनमें आपका पाण्डित्य अनन्यसदृश्य रहा था। आपके द्वारा प्रणीत कई संसकृत ग्रन्थ हैं, जिनके आधार पर 'धर्म सिद्धान्त विद्यालयों' का अध्ययन किया जाता था।

सन् १९२३ में स्वामी विद्याधिराज महाराज की महासमाधि के बाद परमहंस स्वामी जी तीर्थपाद सम्प्रदाय के कुलपति के रूप में रहकर अपने गुरुकुल एवं सम्प्रदाय की सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा तथा उन्नति के लिए अश्रान्त यत्न किया था। आपके महान यत्न के फलस्वरूप तीर्थपाद सम्प्रदाय की प्रसिद्धि देश-देशान्तरों में व्याप्त हो गयी। और असंख्य योग्य व्यक्तियों एवं शिष्यों को गुरुकुल की ओर आकर्षित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

आपका जन्म [म·ई·] १०५७ को हुआ और मृत्यु ११९४ में हुई। आपके माता का नाम कुंचिकुट्टि पिल्लै था और पिता आलङ्ङाट्टु चेरुकोत्तु मनयकल के एक ब्राह्मण थे। बाल्यावस्था में आप का नाम नारायण था। आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे थे। योग चर्या से दीप्त आप का शरीर कृश एवं मुख तेजस्वी रहा था। जब से आपका संपर्क महर्षि विद्याधि राज महाराज के साथ हुआ तब से वे सन्यास स्वीकार करके उनका शिष्य बन गये। आपका सन्यास जीवन अत्यन्त श्रेयस्कर एवं भव्य रहा था।

सन्दर्भ ग्रंथ और लेख

लेख

१ श्री चट्टम्पि स्वामी जी जिन्हें श्री नारायण गुरु ने देखा – श्री विद्यानन्द तीर्थप

२ स्वामी जी के जीवन पर एक दृष्टि – पी. के. परमेश्वरन नायर

३ श्री विद्याधिराज महाराज – शूरनाट्टु कुंजनपिल्लै

४ स्वामी जी जिन्हें मैंने देखा है – साहित्य कुशल - टी. के. कृष्ण मेनन

५ गुरु जी की स्मृतियाँ – आरन्मुल नारायण पिल्लै

६ स्वामी जी के साथ मेरा सम्पर्क – कुम्पलत्तु शंकुपिल्लै

७ स्वामी सन्दर्शकों की दृष्टि में – परवूर गोपालपिल्लै

८ एक दिव्य सन्दर्शन – टी. आर. अनन्तकुरुप

९ मेरे स्मृति-पथ में से – कोट्टिनाट्टु नारायणपिल्लै

१० केरल की महर्षि परम्परा – पुत्तेषत्तु राममेनन

११ श्री चट्टम्पि स्वामी और तीर्थपाद सम्प्रदाय – सी. रामकृष्णन नायर

१२ प्राचीन केरल और नायन्मार – पी. दामोदरन पिल्लै

१३ स्वामी जी अपनी रचनाओं के आधार पर – कुरिश्शेरि गोपाल पिल्लै

१४ अनन्य सिद्धियाँ – जी. कृष्ण पिल्लै

१५ स्वामी जी पुरातत्व गवेषक के रूप में – बी. आर. परमेश्वरन पिल्लै

१६ बातचीत के सिलसिले में – प्राक्कुलम नाणुपिल्लै

१७ अहिंसा की सिद्धि – चेन्नित्तल कृष्णय्यर

१८ कोटनाट्टु जंगल में — के नाणु पिल्लै
१९ स्वामी जी और सामाजिक परिवर्तन — के· जी. नारायण पणिक्कर
२० वह सुदिन — मरवूर भास्करन नायर
२१ मधुर स्मृतियाँ — ए· कृष्णपिल्लै शास्त्री
२२ प्रणव और सांख्य शास्त्र — सी· जी· कोच्चुकृष्णन आशान
२३ कतिपय पूर्व स्मृतियाँ — वेण्मणि नारायण पिल्लै
२४ श्री नारायण गुरु स्वामी — श्रीमती मुतुकुलम पार्वति अम्मा
२५ श्री नीलकण्ठ तीर्थ स्वामी जी — श्रीवद्धनत्तु कृष्ण पिल्लै
२६ श्री तीर्थपाद परमहंस स्वामी जी — एक शिष्य
२७ प्रतिरोध करना चाहिए — मल्लूर गोविन्द पिल्लै
२८ मेरी उपलब्धि — के गोपाल पिल्लै
२९ श्री चट्टम्पि स्वामी जी और श्री नारायण गुरु — के· बालराम पणिक्कर
३० व्यासदेव और शंकर — बोधेश्वरन
३१ आँखों देखे चट्टम्पि स्वामी — चित्रमेषुत्तु के. एम· वर्गीस
३२ गुरु-शिष्य के बारे में — डा० के· जी· गोपालपिल्लै
३३ श्री चट्टम्पि स्वामी को प्रणाम — मन्नत्तु पद्मनाभन
३४ स्वामी जी और तेरुनेल्लौ — वी· कुञ्ञिकृष्णन
३५ कतिपय स्मृतियाँ — सी· एस· सुब्रम्हण्यन पोट्टी
३६ स्वामिजी के उपदेश — पोक्काट्टु राघवन पिल्लै
३७ स्वामी जी के जीवन की मुख्य घटनाएं — പി. കെ. പി. എൻ.

सन्दर्भ ग्रंथ

१ चट्टम्पि स्वामी तिरुवटिकल — सम्पादक–परूर के गोपाल पिल्लै
२ तीर्थपाद परम हंस स्वामिकल II — श्री विद्यानन्द तीर्थपाद स्वामी

३	श्री चट्टम्पि स्वामिकल	–	के भास्करन पिल्लै
४	प्रचीन मलयालम	–	श्री विद्याधिराज महाराज
५	अद्वैत चिन्ता पद्धति	–	,,
६	निजानन्द विलासम	–	,,
७	बालाहृव स्वामी चरणाभरणं	–	कविदीपन-ए· के· नारायण पिल्लै
८	ब्रह्मविद्या	–	विद्यानन्द तीर्थपाद स्वामी
९	क्रिस्तुमत निरूपणम	–	श्री विद्याधि राज स्वामी
१०	श्री नीलकण्ठ गुरुदेवन	–	डा० आर· सुकुमारन नायर
११	वेदाधिकार निरूपणम	–	श्री विद्याधिराज
१२	मोक्षप्रदीप-खण्डनं	–	,,
१३	गुरुप्रणामं	–	सम्पादक श्री विद्याधिराजसभा
१४	जीवकारुण्य निरूपणम	–	श्री विद्याधिराज स्वामी
१५	श्री चट्टम्पि स्वामी	–	पी· के·परमेश्वरन नायर
१६	श्री नारायण के गुरु	–	के· महेशन नायर

श्री विद्याधिराजप्रणामाँजलिः

[अष्टोत्तरशतनामावली]

—तुलसीवनम्

ॐ नमो भगवते विद्याधिराजाय

ध्यानम्

ध्यायेद् विस्तृतफालदीप्तवदनम्
गौरोज्ज्वलश्मश्रुकम्
कारुण्यामृतपूरिताब्जनयनम्
श्वेताम्बरं श्रीकरम्
चिन्मुद्रान्वितदीर्घबाहुयुगलम्
पद्मासनस्थं गुरुम्
श्रीभट्टारकतीर्थपाद, ममलम्
विद्याधिराजं मुनिम् ।।

नामावली

दिव्यविद्याधिराजश्री
मुनये ते नमो नमः
तीर्थपादमहापंक्ति
गुरवे ते नमो नमः । 1

महानंतपुरोद्भूत
ज्ञानदीपाय ते नमः
सहस्रोत्तरमेकोन
त्रिंशजाताय ते नमः । 2

सिंहमाससमुत्पन्न
तापसाय नमो नमः
भरणीपुण्यनक्षत्र
भूजाताय नमो नमः । 3

अप्यप्पदिव्यनाम्नादौ
कथिताय नमो नमः
शिशुरित्याख्यया पश्चाद्
विदिताय नमो नमः । 4

दशसप्तकवर्षीय
लीलानंदाय ते नमः
भरतोर्वीमहापुण्य
श्रीलदेहाय ते नमः । 5

अनघोज्ज्वलसौवर्ण
विग्रहाय नमो नमः
विशालनिटिलार्द्धेन्दु
भूषिताय नमो नमः । 6

तीक्ष्णोज्ज्वलविशालाक्षि
कमलाय नमो नमः
लोकशोकापहप्रेम
कटाक्षाय नमो नमः । 7

उन्नतप्रौढ़नासासं–
शोभिताय नमो नमः
कुंदेंदुधवलादीर्घ
श्मश्रुलाय नमो नमः । 8

परिपावनहारश्री
लसत्कण्ठाय ते नमः
आजानुदीर्घदोर्दण्ड
मंडिताय नमो नमः । 9

तुहिनाभाम्बरच्छन्न
दिव्यगात्राय ते नमः
अत्यद्भुतप्रभापूर
परिवेषाय ते नमः । 10

परवैराग्यकौमार
जीवन्मुक्ताय ते नमः
चिन्मुद्रागूढ़तत्त्वार्थ
प्रबुद्धाय नमो नमः । 11

शरण्यत्राणनिपुण
चरणाय नमो नमः
शिष्यप्रेमश्रितालोक
संग्रहाय नमो नमः । 12

शिशुसन्निभनैर्मल्य
पूर्णचित्ताय ते नमः
शिशुप्रेमनितांतार्द्र
मानसाय नमो नमः । 13

सौकुमार्यसुधापूर्ण
सारल्याय नमो नमः
पंचमीचन्द्रिकातुल्य
सुस्मेराय नमो नमः । 14

चराचरदयास्निग्ध
हृदयाय नमो नमः
पशुसर्पशकुंतात्त
सौहृदाय नमो नमः । 15

नैर्मल्यार्जवसंप्राप्त
लोकश्रद्धाय ते नमः
प्रकृत्यम्बामहालास्य
प्रमोदाय नमो नमः । 16

निखिलारण्यसंचार
कौतुकाय नमो नमः
गुणागणविग्रप
गुणप्रीताय ते नमः । 17

गणनारथानसंत्यक्त
शरीराय नमो नमः
गहबोत्तरमेकोन
शतगृक्ताय ते नमः । 18

गणमासपरित्यक्त
भौतिकाय नमो नमः
कार्तिकापुण्यनक्षत्रे
प्राप्तमोक्षाय ते नमः । 19

गुरुभक्तिसुधापूर्ण
हृदयाय नमो नमः
राजराजेश्वरीप्रेम
निलयाय नमो नमः । 20

चतुःषष्टिकलाविद्या
कोविदाय नमो नमः
सुकुमारकलालोक
सम्राड्भूताय ते नमः । 21

वीणावादनसामर्थ्य
हृष्टभक्ताय ते नमः
संगीतालापसारस्य
जितविश्वाय ते नमः । 22

नादब्रह्मसुधापान
मत्तचित्ताय ते नमः
गानगानगेयरूप
वस्तुबुद्धाय ते नमः । 23

भक्तलोकसमाराध्य
पादुकाय नमो नमः
कटाक्षक्षालितातंक
भक्तसंघाय ते नमः । 24

सर्ववेदांतसारज्ञ
पण्डिताय नमो नमः
सिद्धांतमार्गसर्वज्ञ
गुरुदेवाय ते नमः । 25

अद्वैतामलसत्तत्त्व
रसज्ञाय नमो नमः
द्वितीयशंकराचार्य
भट्टपादाय ते नमः । 26

अज्ञानध्वांतसंघात
भास्कराय नमो नमः
प्रतिवादिमतंगौघ
पंचास्याय नमो नमः । 27

पापसंचयकांतार
ज्ज्वलनाय नमो नमः
संसारघोरशोकाग्नि
सुधावर्षाय ते नमः । 28

अमानुषमहाप्रज्ञा
संपन्नाय नमो नमः
शिष्यसंचयनिर्वाण
मार्गदीपाय ते नमः । 29

गुरूणां गुरवे सत्य
दर्शकाय नमो नमः
नारायणगुरुप्रीत
गुरुभूताय ते नमः । 30

नीलकण्ठयतीन्द्रश्री
गुरुपादाय ते नमः
तीर्थपादमुनिश्रेष्ठ
गुरुवर्याय ते नमः । 31

अध्यात्मज्ञानविज्ञान
निधये ते नमो नमः
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूप
ब्रह्मैक्याय नमो नमः । 32

शिष्यजिज्ञासुदाक्षिण्य
समुद्राय नमो नमः
चिदानंदाब्धिकल्लोल
निमग्नाय नमो नमः । 33

लीलयादर्शिताश्चर्य
सिद्धिजालाय ते नमः
गंगाह्रदनिभाधृष्य
गंभीराय नमो नमः । 34

वेदांतपदसंप्राप्त्या
प्राप्तकामाय ते नमः
अनास्तिकमनोलीन
तमःसूर्याय ते नमः । 35

पुण्यकीर्तिमते सर्व
सन्नुताय नमो नमः
चिदाकाशखगज्योति-
रुडुपाय नमो नमः । 36

उपनिषत्सारसत्य
मर्मज्ञाय नमो नमः
ब्रह्मसूत्रांतरालीन
तत्त्वज्ञाय नमो नमः । 37

गीतासारमहायोग
कर्मज्ञाय नमो नमः
वासनात्यागसंपन्न
स्थितप्रज्ञाय ते नमः । 38

शिवज्ञानमहायोगि
मूर्द्धन्याय नमो नमः
विष्णुभक्तिसुधासार
प्रसन्नाय नमो नमः । 39

शाक्तेयसाधनासंपद्
धनिकाय नमो नमः
राजयोगिमहाराज
सार्वभौमाय ते नमः । 40

स्वशिष्याचारित महा
कर्मयोगाय ते नमः
कर्मभक्तिज्ञानयोग
त्रिवेण्यै ते नमो नमः । 41

धर्ममोक्षैकसंप्राप्त
पूर्णानंदाय ते नमः
अर्थकामपरावृत्त
हृदयाय नमो नमः । 42

भक्ताखिलपुमर्थानाम्
साधकाय नमो नमः
शोकतप्तजनानंद
मधुवर्षाय ते नमः । 43

लोकप्रत्यक्षरूपश्री
वैकुण्ठाय नमो नमः
परानंदसुधासिंधु
प्रमग्नाय नमो नमः । 44

निरुपाधिकचैतन्य
स्वरूपाय नमो नमः
एक सद्दर्शनानंत
तुष्टिदाय नमो नमः । 45

निजप्रभावसंपूत
भुवनाय नमो नमः
शुकमार्गनिरायास
धृतमोक्षाय ते नमः । 46

भक्तहृद्भीतितामिस्र
मिहिराय नमो नमः
समस्तपापतापौघ
दहनाय नमो नमः । 47

नामसंकीर्तनरत
ज्ञानदाय नमो नमः
तुरीयपदसंलीन
केवलाय नमो नमः । 48

दहराकाशसंदृष्ट
महातत्त्वाय ते नमः
पुनरावृत्तिराहित्य
संपूर्णाय नमो नमः । 49

कैवल्यगोरसास्वाद
गोपबालाय ते नमः
शिष्यदर्शितकैवल्य
महामार्गाय ते नमः । 50

सदा कैवल्यसन्निष्ठ
लब्धकामाय ते नमः
साक्षात्कैवल्यरूपश्री
चिदानंदाय ते नमः । 51

अनताद्वैतवाराशि
पारगाय नमो नमः
सदसद्भेदसंघात
घातकाय नमो नमः । 52

इहामुत्रमहाज्ञान
सर्वज्ञाय नमो नमः
सदा परमभट्टार
पदभूषाय ते नमः । 53

क्षयोदयतरंगाली
भंगांगाय नमो नमः
स्वयं साक्षाच्चिदानंद
मूर्तये ते नमो नमः । 54

अन्यथा शरणं नास्ति
त्वमेव शरणं मम
तस्माद् विद्याधिराज ! त्वं
रक्ष रक्ष मुनीन्द्र माम् ।

डा० एन० चन्द्रशेखरन नायर की जीवन-रेखाएँ

जन्म तिथि	:	२६ जून १९२४
जन्म-स्थान	:	शास्तामकोट्टा (मध्य केरल में)
पिता का नाम	:	श्री नीलकण्ठ पिळ्ळै
माता का नाम	:	श्रीमती जानकी अम्मा

शिक्षा

प्रारंभिक सात वर्ष तक स्थानीय विद्यालय में; तदुपरांत गान्धीजी के प्रभाव से हिन्दी पढ़ने का संकल्प लिया और श्री. के. राघवन, पारंगत के द्वारा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की प्रारंभिक परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। बाद में स्वयं अपने अध्यवसाय से सभा की विशारद परीक्षा पास कर ली। फिर क्रमशः विद्वान [ट्रावन्कोर विश्वविद्यालय १९५०], बी० ए० [ट्रावन्कोर वि० वि० सन् १९५४], साहित्य रत्न [हिन्दी वि०वि०, प्रयाग १९५७], एम० ए० [काशी वि० वि० १९५८]।

विशेष उपलब्धियाँ

अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन, बंबई द्वारा 'डाक्टर ऑफ लिटरेचर' तथा 'मास्टर ऑफ एजूकेशन' की मानद उपाधियाँ [सन् १९६८]।

बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर द्वारा 'हिन्दी और मलयालम के [दो] सिंबॉलिक [प्रतीकवादी] कवि' विषय पर पी-एच० डी० उपाधि [सन् १९७७], बिहार विश्व-विद्यालय की डी० लिट० की उपाधि केलिए शोध-कार्य में संलग्न।

शैक्षणिक सेवाएँ

प्रारंभ में शास्तांकोट्टा को केन्द्र बनाकर आस-पास के जनपदों में हिन्दी-प्रचार कार्य किया। बाद में शास्तांकोट्टा रेजीडेन्श्यल हाई-स्कूल में तीन महीने तक सन् [१९४७] हिन्दी पंडित। सन् १९४७ से १९४८ तक पुनलूर अंग्रेजी हाई-स्कूल में हिन्दी अध्यापक और सन् १९४९ से १९५१ तक शास्तमंगलं, त्रिवेन्द्रम वाले एन० एस० एस० हाई-स्कूल में हिन्दी के अध्यापक। सन् १९५१, १५ अक्तूबर महात्मा गान्धी कॉलेज, त्रिवेन्द्रम में हिन्दी प्राध्यापक के पद पर नियुक्ति। वहाँ से दो वर्ष पंतलम एन० एस० एस० कॉलेज, एक वर्ष चंङनाशेरी हिन्दु कॉलेज, छः वर्ष ओट्टपालम एन० एस० एस० कॉलेज, दो वर्ष मट्टनूर पषशिराजा कॉलेज में स्थानांतरित होकर रहे। सन् १९७५ से फिर महात्मा गान्धी कॉलेज, त्रिवेन्द्रम में आये और अभी तक वहीं हैं।

कालीकट विश्व-विद्यालय के प्रारम्भ से ही उसकी शिक्षा-समितियों के सात वर्ष तक अध्यक्ष रहने के साथ-साथ वहाँ के भाषा संकाय [सन् १९६८-७५] और परीक्षा-परिष्कार समिति के भी सक्रिय सदस्य। सन् १९७७ से केरल विश्व-विद्यालय की शिक्षा

समिति और अन्य उपसमितियों के भी क्रियाशील सदस्य। इसके अतिरिक्त देश के दूसरे अनेक विश्व-विद्यालयों के भी परीक्षक। केरल विश्व-विद्यालय के विसिटिंग लेक्चरर [सन् १९७६–७८ और ७८–७९] केरल विश्व-विद्यालय में हिन्दी पी-एच०डी० का रिसेर्च गाइड़।

संस्कृति एवं सामाजिक कार्य

पालघाट जिला "भारत युवक समाज" के अध्यक्ष [सन् १९६८ से १९७३ तक]; गान्धी शताब्दी-समिति, ओट्टपालम के अध्यक्ष और पालघाट जिले के उपाध्यक्ष [सन् १९७० से १९७५ तक]; पालघाट जिला 'सर्वोदय-मण्डल' के अध्यक्ष [सन् १९७१ से १९७५ तक]; ओट्टपालम और श्री मूकांबिका के श्री रामकृष्ण आश्रमों में सक्रिय योगदान। अन्य अनेक सांस्कृतिक संस्था के कार्यों में संलग्न। हिन्दी कार्यान्वयन समिति इन्टेग्रल कोच फाक्टरी, मद्रास के केन्द्र सरकार के रेल मंत्रालय द्वारा मनोनीत सदस्य [१९७५ से ७८ तक] १९७९ से भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय द्वारा स्वतंत्र हिन्दी संस्थाओं के कार्यनिरीक्षण केलिए मनोनीत सदस्य। आदर्स गिल्ड ऑफ इन्ड्या का सदस्य। केन्द्र सरकार के जहाजराणी एवं परिवहन मंत्रालय और पर्यटन और नागर विमानन मंत्रालय की सलाहकार समितियों के सदस्य, केरल हिन्दी साहित्य अकादमी की और केरल आर्ट एण्ड लिटररी अकादमी के चेयरमान। केरल और कोट्टयम विश्व-विद्यालय की पाठ्यपुस्तक समितियों के सदस्य (पी. जी.)।

साहित्यिक कार्य

सन् १९५० से विधिवत् लेखन आरंभ।

प्रथम लेख आगरा विश्व-विद्यालय, के. एम. मुंशी हिन्दी विद्यापीठ के मुख-पत्र 'भारतीय साहित्य' में सन् १९५६ में प्रकाशित।

प्रथम नाटक—'राष्ट्र-भारती' वर्धा में, सन् १९६२।

हिन्दी रचनाएँ

प्रथम पुस्तक 'द्विवेणी' (भावनाट्य १९६२), कुरुक्षेत्र जागता है (नाटक संकलन १९६२), हार को जीत (कहानी-संग्रह १९६४), युग संगम (नाटक संकलन १९६४), हिमालय गरज रहा है (राष्ट्रीय खण्ड-काव्य १९६५), निबन्ध-मंजूषा (सामयिक निबन्ध १९६६), भारतीय साहित्य (प्रौढ़ निबन्ध १९६७), भारतीय साहित्य और कलाएँ (आलोचना, कलासम्बन्धी निबंध १९६७) सेवाश्रम (नाटक १९६७), देवयानी (नाटक १९७१), प्रोफेसर और रसोइया (कहानी संग्रह १९७३), प्रतीक-पूर्वी तथा पश्चिमी (समीक्षा १९७९), प्रतीकी कवि सुमित्रानन्दन पंत (समीक्षा १९७९), श्रेष्ठ सिंबॉलिक महाकवि जी. शंकर कुरुप (समीक्षा १९८०), सुमित्रानन्दन पंत और जी. शंकर कुरुप: तुलनात्मक अध्ययन (समीक्षा १९८०), हिन्दी और मलयालम के (दो) सिंबॉलिक (प्रतीकवादी) कवि (शोध निबंध १९८०), अतीत के दिन (जीवनी-अनुवाद),

महर्षि विद्याधिराज तीर्थपाद (जीवनी १९८३), चिरंजीवी (कविताएँ १९८०), धर्म और अधर्म (नाटक संकलन १९८१)।

मलयालम रचनाएँ

'चेरुप्पु कृत्तियुटे मकल' (कहानी-संग्रह सन् १९६१), 'कुरुक्षेत्रं उणरुन्नु' (नाटक १९६३); 'द्विवेणी' (नाटक १९६३); 'युग-संगमं' (नाटक १९६७); 'अतिरुकटन्न पेण्णुंङ्ल' (कहानी संग्रह १९६६); 'महात्मा गाँधी' (जीवनी १९६९); अतिथिसत्कारं (अनुवाद-निबंध १९७२); गाँधीजी ओरु लघुवीक्षणम (अनुवाद-जीवन-स्मृतियाँ १९७२); देवयानी (नाटक १९७३); सीतम्मा (उपन्यास १९७३); चतुरंग (नाटक संकलन १९७३); भगवान् बुद्धन (नाटक १९७८); केरल की कलाएँ (१९८२)।

समूचे भारतवर्ष में ऐसे बहुत से श्रेष्ठ संकलन निकले हैं जिनमें नायर जी की कृतियाँ भी समाविष्ट हैं। उपर्युक्त पुस्तकों में से दशाधिक कृतियाँ केरल और देश के अनेक प्रांतों में पाठ्यक्रम में स्वीकृत हैं।

सम्मान और पुरस्कार

नायर जी की साहित्यिक एवं कलाकृतियों को भारत सरकार तथा विविध प्रांतों की अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत किया गया है जिनमें निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं:

(१) देवयानी (१९७२) और 'प्रोफेसर और रसोइया' (१९७४) दोनों रचनाएँ केंद्र सरकार के शिक्षा और कल्याण मंत्रालय के प्रथम पुरस्कारों में आयी हैं। (३) साहित्य मार्तण्ड (१९७४)। (४) देशरत्न (१९७८), और (५) राष्ट्रीय कवि (१९७६) ये मानद उपाधियाँ मथुरा के कला-साहित्य संस्कृति-विद्यापीठ द्वारा दी गयी हैं। (६) 'कुरुक्षेत्र जागता है' हैदराबाद वाले हिन्दी प्रतिष्ठान द्वारा दक्षिण भारत में १९४७ से १९७२ तक रची नाटक रचनाओं में श्रेष्ठ कृति होने के रूप में १५ फरवरी १९७२ में पुरस्कृत हुई। (७) १२ अप्रैल ७९ में दिल्ली में आयोजित समारोह में भारत सरकार के सूचना-प्रसारण मंत्री माननीय लालकृष्ण अद्वानी द्वारा अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित हुआ। (८) यू. जी. सी. की ओर से पी-एच. डी. के शोध-ग्रंथ के प्रकाशन के लिये चौदह हजार छे सौ रुपये का 'अवार्ड' प्राप्त हुआ (१९७९) में। (९) एन. एस. एस. द्वारा महा सम्मेलन में (१९८०) विशेष रूप से सम्मानित हुए। (१०) १९८३ अक्तूबर में तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में विश्व के ४० विशिष्ट साहित्यकारों में केरल प्रांत की ओर से सम्मानित-आदृत हुए हैं।

परिवार

पत्नी—श्रीमती शारदा, पुत्र—शरत्चन्द्रन, पुत्रियाँ—नीरजा और सुनन्दा। संप्रति महात्मा गाँधी कालेज, तिरुवनन्तपुरम के हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं प्रोफसर हैं। स्थाई पता—श्रीनिकेतन, पट्टम पालस पी. ओ. तिरुवनन्तपुरम–695004.

इस जीवनी को पढ़कर पता लगा कि महर्षि विद्याधिराज तीर्थपाद बहुत पहुँचे हुए साधक थे। और जैसा कि ऐसे महापुरुषों के जीवन में होता है, छोटी उम्र में उन्हें संसार की असारताबोध हो गया था। वे आगे चलकर बहुत बड़े अद्वैती और समाज-सुधारक भी हुए। जैसे उत्तर भारत में स्वामी दयानंद ने जातिभेद को विनष्ट करने का यत्न किया, स्वामी विद्याधिराज ने भी ख्रिस्तीयन का विवेचन किया; वेदाधिकार केवल ब्राह्मणों को क्यों है, यह प्रश्न पूछा; और दर्शन में योग पर विशेष चिन्तन प्रस्तुत किया। 'निजानन्द विलास' उनकी और एक महत्व-पूर्ण कृति है। अन्त में लेखक ने 'केरल की ऋषि परंपरा' देकर पाठकों को वहाँ रामकृष्ण के भक्त और उपासक तथा अन्य संतों के बारे में भी परिचित किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में सुधारवादी वैधानिक बुद्धिवादी विचारकों ने ब्रह्मसमाज, प्रार्थना-समाज, आर्यसमाज आदि आंदोलन चलाये। महात्मा गान्धी ने हरिजनों को मुख्य धारा में मिलाने का बड़ा यत्न किया। पर दिखता यह है कि समस्या ने और जटिल राजनैतिक कट्टरता का रूप ले लिया। हर प्रदेश में, हर भाषा-समूह में ऐसे प्रयास हुए, परन्तु एकता जैसी चाहिए थी वह नहीं हो पाई।

इस परिप्रेक्ष्य में यह जीवनी काफी उपयोगी है। इससे पता चलता है कि सच्चे आध्या-त्मिक मार्ग का पथिक कैसे समदर्शी होता है। वह मानव-मानव में प्रभेद करके सोचने-वाली खण्डित विचार-धारा को नहीं मानता।

महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद

महर्षि श्री विद्याधिराज ब्रह्मज्ञ एवं जीवन्मुक्त महान संत थे। वे स्वयं नहीं चाहते थे कि उनके नाम पर कोई अध्यात्म संस्था स्थापित हो अथवा एक महान महन्त के नाम से ख्याति प्राप्त करें। जैसे श्री तिरुज्ञान सम्बन्धर, भगवान् बुद्ध, जगद्गुरु शंकराचार्य, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि भारतीय अध्यात्म पुरुष संसार-जीवन में तटस्थ रहे थे वैसे महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद भी लौकिक जीवन में तटस्थता अपनाए रहे थे। फिर भी, उपर्युक्त महापुरुषों की ही तरह निस्वार्थ भाव से वे लोक-मंगल चाहते थे। उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ और बीसवीं सदी के प्रारंभिक चरणों में तीर्थपाद स्वामी के भव्य एवं दिव्य जीवन के सान्निध्य के बल पर केरल की जनता की जीवन-गति में पर्याप्त परिवर्तन आ गया और महापुरुष की मंगल-कामना मात्र से केरल की संस्कृति का समुचित एवं रुचिकर विकास हो गया। तत्पश्चात् देश की श्रीवृद्धि होने लगी। आज केरल का जो सांस्कृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक धरातल है उसके मूल में महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद की मंगलाशा की प्रेरणा काम करती थी।

डा० एन० चन्द्रशेखरन नायर

प्रकाशक
श्री विद्याधिराज विद्यासमाज
तिरुवनन्तपुरम

Cover Printed at St. Joseph's Press, Trivandrum-14.